निवेदन

हिंदी का साहित्य उत्तरोत्तर वृद्धि पा रहा है। अनेक नये पुराने कलाकारों ने अपने काव्य-कौशल द्वारा इस साहित्य की सुषमा को बढ़ाया है। किसी भी कवि की रचना का मर्म समझने के लिए उस कवि की रचनाओं की समालोचना—अन्तरंग और बहिरंग—परीक्षात्मक विवेचना—आवश्यक है। इस पुस्तक में हिंदी के प्रत्येक काल के प्रतिनिधि-कवि और उनकी रचनाओं पर प्रामाणिक समालोचनात्मक लेख प्रस्तुत किये गये हैं। लेख केवल उन्हीं विद्वानों के दिये गये हैं जिनको इस युग में विशेषज्ञ माना गया है और जिनके लेख हिंदी-समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। आशा है पाठक इससे अवश्य समुचित लाभ ले सकेंगे।

जिन विद्वानों के लेख हमने इस पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं उनके प्रति हम हार्दिक धन्यवाद प्रकट करते हैं।

प्रकाशक

विषय-सूची

हिन्दी-साहित्य के चार काल

शर्मात्रयी

निशा की गहन गुहा से निकलती हुई उषा के समान सहसा ही हिन्दी-कविता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। हिन्दी-कविता का नैश काल अनेकों तारक-तारिकाओं से खचित था। जिस प्रकार अगणित नक्षत्र अपना संचित क्षीण प्रकाश उषा को प्रदान कर जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सिद्ध, नाथपंथी तथा जैन कवियों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी के प्रथम कवि की काव्य-भाषा का केन्द्रीकरण करने में सहायता दी। चन्द शैशवकालीन हिन्दी-काव्य-सौर मण्डल के अध्यक्ष हैं। इनसे पूर्व हिन्दी का कोई सुगठित परिमार्जित रूप न था। भाषा सदा भ्रमणशील रही है। अपनी यात्रा में दुरूह से सुगम्य की ओर चलती हुई यह अपना परिधान बदलती रही है। हिम-प्रदेश का यात्री जिस प्रकार समतल भूमि की ओर आते-जाते अपना लबादा हलका कर लेता है, भाषा भी उसी भाँति लोक-स्तर तक पहुँचते-पहुँचते बोझा हलका कर डालती है। कलाकारों और देवदूतों को अपना शुभ सन्देश जनता तक पहुँचाने के लिए लोक-भाषा को अपनाना पड़ता है। तभी उनकी विमल वाणी असंख्य हृदयों को स्पर्श करने की क्षमता प्राप्त कर पाती है। संस्कृत के लोक-भाषी न होने के कारण ही महात्मा बुद्ध ने अपने अमर उपदेश पाली में दिये थे।

वेदकालीन भाषा का संशोधित स्वरूप संस्कृत में स्थिर हुआ, किन्तु जन-साधारण की भाषा प्रगति-गामिनी होकर पाली में परिवर्त्तित हो गई। पाली प्राचीन प्राकृत का उन्नत रूप था। पाली की परिपक्वता पर लोक-भाषा (प्राकृत) फिर आगे चली और तीन धाराओं में प्रवाहित होने लगी—प्राचीन, मध्य-कालीन और उत्तरकालीन। उधर साहित्यिक प्राकृत चार मुख्य भागों में विभाजित होगई—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध-मागधी। इन प्राकृतों में भी जब गंभीर साहित्य का सृजन होना प्रारंभ हो गया, तथा व्याकरण की शृङ्खलाओं में ये कस दी गई, तब लोक-भाषा की विभिन्न धाराएँ, जो स्वाभाविक रूप से अग्रसर हो रही थीं, 'अपभ्रंश' कहलाने लगीं। अपभ्रंश के तीन प्रमुख रूप थे—नागर, ब्राचड और उपनागर। अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश अधिक महत्त्वपूर्ण थी। सुप्रसिद्ध जैन-आचार्य हेमचन्द्र ने नागर अपभ्रंश को अपना कर इसकी मान्यता बढ़ाई। नागर अथवा शौरसेनी अपभ्रंश ने प्रान्तान्तर के कारण अनेक कलेवर बदले किन्तु काव्य-क्षेत्र में इसके दो रूप निर्धारित हुए—डिंगल और पिंगल। राजस्थान और ब्रज की साहित्यिक भाषा का नामकरण क्रमशः डिंगल और पिंगल हुआ। यहीं से हिन्दी का आविर्भाव हुआ। इतिहासकारों ने इसका जन्म विक्रम-संवत ७०० माना है।

: १ :

चारण-काल (वीर-गाथा-काल)

धर्म की समृद्धि के लिए जब तक उसके देवता के मन्दिर

में, जीवनवर्त्तिका प्रज्वलित कर, आरती नहीं उतारी जाती, तब तक अधर्म का घनीभूत अन्धकार घिरा रहता है। डिंगल काव्य-धारा में क्षात्र धर्म एक सुलगता सन्देश है। धर्म के अस्तित्व के लिए, उसके स्थायित्व की चेष्टा में कटिबद्ध वीर क्षत्रिय नृपों की करवाल सौदामिनी की भाँति साहित्याकाश में सदा चमकती रहेगी।

चारण-काल की राजनीतिक परिस्थिति का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि देश की राजनीति का संचालन विभिन्न वर्ण के क्षत्रिय राजा कर रहे थे। पारस्परिक मनोमालिन्य ने भ्रातृत्व में कटुता का विनाशकारी बीज बो रखा था। अतः गृह-कलह के कारण सुदृढ़ राज्यों की शक्तियों का क्षीण होना भी स्वाभाविक था !\

दूसरी ओर मुसलमानी आक्रमणों का भयानक आतङ्क छाया था। भारतवर्ष की दशा अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी। सब ओर से अशान्ति-पूर्ण रण-चीत्कार वातावरण में समा गया था। ऐसी दशा में राजस्थान के चारण और भाटों की लेखनी भी शान्त न रह सकी। स्वदेश-रक्षा करने और जीवन-मर्यादा को आघातों से सुरक्षित रखने के लिए कवियों ने डिंगल काव्य में वीरता का सन्देश अङ्कित कर क्षत्रियों को प्रचुर प्रोत्साहन दिया। राजाश्रयी कवि अपने राजाओं के प्रताप और शौर्य-पूर्ण गौरव का वर्णन अनुपम उक्तियों से करने लगे।

आधुनिक हिन्दी और डिंगल दोनों का उद्गम अपभ्रंश से है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों में अन्तर आ जाने का

कारण यह है कि हिन्दी बोल-चाल की भाषा है। निरन्तर व्यवहार में आने के कारण इसमें परिवर्त्तन होना स्वाभाविक ही है। डिंगल एक कालविशेष की साहित्यिक भाषा होने के नाते स्थिर ही रह गई। किन्तु उस काल के डिंगल-काव्यकारों की गणना हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चारण-काल के काव्य-रचयिताओं में की जाती है।

'डिंगल' शब्द के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने इस शब्द की उत्पत्ति 'डगल' से बताई है। प्रारम्भ में इसको 'डगल' (अनगढ़ पत्थर—अपरिष्कृत स्वरूप) कहते थे। किन्तु पिंगल शब्द से तुक मिलाने के लिए बाद में 'डिंगल' बना दिया गया। डा० टेसीटरी के मतानुसार डिंगल का 'डगल' से कोई सम्बन्ध नहीं। राजस्थानी चारण पण्डितों के अनुसार किसी विचित्र और प्राकृत शब्द-रूपावली से ही इसका तात्पर्य है। डिंगल एक विशेषण रूप है, जिस का अर्थ है 'गड़बड़' (अनियमित), अर्थात् जो ऊँचे काव्य के अनुसार नहीं, सम्भवतः जो 'असंस्कृत' है। तीसरा मत बिल्कुल नई बात कहता है। वह यह कि डिंगल शब्द की उत्पत्ति 'डिम (डम ?) गल' से हुई है। डिम (डम) का तात्पर्य डमरू-ध्वनि से है और गल का प्रयोजन गले से है। गले से डमरू की ध्वनि के समान गूँज होना। प्रलयंकर शंकर के डमरू बाजे से वीर और रौद्र रस का आविर्भाव होता है। अतएव डमरू की ध्वनि के समान ध्वनित होने वाली कविता जो वीरों को उत्साहित कर वीर-रस

संचार करे वही डिंगल कविता बनी। डिंगल काव्य पिंगल से प्राचीन माना जाता है। जब राजस्थान पर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे तो वीर-रसपूर्ण कविताओं द्वारा सैनिकों को साहस और प्रोत्साहन देने की आवश्यकता अनुभव हुई। तभी से डिंगल-काव्य में वीरों की कीर्ति का बखान करते हुए वीर-पूजा का युग प्रारम्भ हुआ। यही समय 'चारण-काल' अथवा 'वीर-गाथा-काल' नाम से विख्यात है।

: २ :

भक्ति-काल

विचार और अनुभूति के समन्वय से सुन्दर साहित्य की सृष्टि होती है। साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते समय तत्कालीन दार्शनिकों की विचार-धारा पर दृष्टि रखना अत्यन्त आवश्यक है। विचारों की पृष्ठ-भूमि पर ही भावना की तूलिका से कुशल कलाकार विविध रंगों द्वारा साहित्य-चित्रण करते हैं। वेदों और उपनिषदों के अजस्र स्रोत से सिंचकर हमारा साहित्य पल्लवित और कुसुमित होता रहा है।

अपभ्रंश-कालीन साहित्य पर बौद्ध (वज्रयानी सिद्ध), जैन और नाथ-पंथियों का स्पष्ट प्रभाव हम देख ही चुके हैं। धर्म अपनी अवनत दशा में किसी प्रकार अस्तित्व बनाये हुए था। बाह्य आडंबरों की निस्सारता सिद्ध कर धर्म को किस प्रकार 'गुह्य' की ओर प्रेरित किया गया था तथा वाम-मार्ग पर चल कर उसका कैसा दुष्परिणाम निकला, इसका उल्लेख हम कर

चुके हैं। जनता की धार्मिक भावना क्षीण हो चली थी और संघर्ष के युग में प्रवेश करते-करते युद्ध-रत जन-समुदाय के हृदय में शौर्य-शैवालिनी तरंगित हो उठी थी। अतएव वीरगाथा-काल में हमें चारणों की ओजस्विनी वाणी डिंगल में गूँजती हुई सुनाई पड़ती है।

मुसलमानी आक्रमणों के प्रभाव से जो काव्य-धारा उमड़ कर गंभीर गर्जन कर उठी थी, जिसने सुप्त वीरत्व को उभार कर राजस्थान में वीरों की मन्दाकिनी उमड़ा दी थी, वही धारा इस्लामी विजय की अचल चट्टान से टकरा कर छिन्न-भिन्न हो गई। सम्पूर्ण देश की दशा अस्तव्यस्त हो गई। निराश्रित चारण इधर-उधर भटक गये और डिंगल काव्य का ह्रास होने लगा।

इधर मुसलमानों ने जब अपने पैर दृढ़ता से जमा लिये, और उनके निष्कासन के लिए किये गए सब प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए तो लाचार होकर हिन्दुओं को विजयी विदेशियों के प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार करना पड़ा। मुसलमान भी धीरे-धीरे भारतीयता की ओर झुकने लगे और दो संस्कृतियों में परस्पर आदान-प्रदान होने लगा। धार्मिक कट्टरता भी ढीली हो चली तथा साहित्य-क्षेत्र में हृदय-परख का कार्य प्रारम्भ हो गया। दोनों एक-दूसरे को पहचानने और समझने का प्रयत्न करने लगे। काव्य-संगीत से दिलों का मैल धुलने लगा और कटुता की खाई पर स्नेह का सेतु बनना शुरू हो गया।

भक्ति-काल को उर्वर बनाने में धार्मिक मनीषियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। दक्षिण में रामानुजाचार्य और गुजरात

में स्वामी माधवाचार्य ने क्रमशः सगुण भक्ति और द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय का जो बीजारोपण किया था वह शीघ्र ही सुदृढ़ वृक्ष के रूप में बढ़कर शाखा-प्रशाखाओं में फैलने लगा। पूर्व में जयदेव-कृत गीतगोविन्द की जो मधुर ध्वनि मुखरित हो रही थी, उसे मैथिल-कोकिल विद्यापति ने अपनी मधुर वाणी से और भी स्निग्ध कर दिया था। पन्द्रहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के सुप्रसिद्ध शिष्य रामानन्द ने रामोपासना का प्रचार किया और दूसरी ओर कृष्ण-भक्ति-परंपरा में वल्लभाचार्य ने कृष्ण के माधुर्य-रस में जनता को आप्लावित किया।

इधर हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्नशील साधु-सन्तों ने ईश्वर के निर्गुण स्वरूप का सहारा लेकर मूर्तिपूजा-विरोधी मुसलमानों के लिए निर्गुणवाद का निरूपण किया। इस दिशा में नाथपन्थी जोगी पहले ही अग्रसर हो चुके थे। महाराष्ट्र के भक्त-शिरोमणि नामदेव (सं० १३२८–१४०७) ने भी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए सतत प्रयत्न किया और तदुपरान्त कबीर ने निर्गुण पन्थ की प्रस्तावना लेकर सामान्य धर्म का मार्ग-निर्देश किया।

जिस प्रकार सगुणोपासना राम और कृष्ण को अपनाकर दो भागों में विभक्त हो गई, उसी प्रकार निर्गुणोपासना भी दो धाराओं में प्रवाहित हो चली। एक में ज्ञान का बाहुल्य था, जिसमें आर्द्रता के स्थान पर शुष्क बालुका की प्रचुरता थी; दूसरे में प्रेमतत्व की प्रधानता के कारण सरसता का संचार होता था। मस्तिष्क और हृदय अपनी-अपनी शक्ति समेट

कर पूर्ण वेग के साथ इन दो धाराओं में बह चले। वेदान्त के रेतीले पथ पर ज्ञानवादी चल पड़े और प्रेम का पल्ला पकड़ कर कवि-हृदय सूफ़ी-सन्तों ने अपने प्रियतम की गैल गही।

इस प्रकार निर्गुण काव्य, प्रेम-काव्य, राम-काव्य, और कृष्ण-काव्य की विविध तरंगों से साहित्य-सरोवर हिलोरें लेने लगा और अपभ्रंश-कालीन धर्म का विकृत रूप परिमार्जित और परिशोधित होकर भक्ति-काल को अपनी सौन्दर्यश्री से अनुरंजित करने लगा।

: ३ :

रीतिकाल

जब मुसलमानों के आक्रमण-उद्वेग ने हिन्दुओं के असंगठित समुदाय को भयभीत-सा कर दिया, तब निराशा, खिन्नता और ग्लानि के सघन घन भारतीय व्योम-मंडल में छा गये। उन दिनों में यदि किसी ने उनकी मनोव्यथा का अनुभव किया तो वह विकलवाणी युक्त भारत के भक्त-कवियों का हितैषी-मंडल था। इन पवित्र जीवनावलम्बी भक्त-कवियों ने शान्ति और सहानुभूति का शुभ संदेश देकर हिन्दू-समाज को विदीर्ण हृदय को नवीन उत्साह और आशा के मरहम से सुगठित किया। इन महापुरुषों की सात्त्विक कविता जनता को सन्मार्ग पर अग्रसर करती हुई अमरत्व को प्राप्त हुई। कबीर, तुलसी, सूर और जायसी जैसे महात्माओं ने चिरस्थायी काव्य-ग्रन्थों का निर्माण कर अपने-अपने आदर्शों और उद्देश्यों का सफल

प्रचार किया। साहित्य-भांडार में अनेक मूल्यवान् रत्न एकत्र होते गये। उधर सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों के सरस, मधुर मुक्तक गीतों और पदों से हिन्दी भाषा में विशेष कोमलता आई। कृष्ण-राधा-विलास और व्रजभूमि की विरहिणी गोपिकाओं के हाव-भाव-चित्रण ने आगे के कवियों को शृङ्गार-रस के काव्य-निर्माण की प्रेरणा दी। यद्यपि सूरदास के गोपाल गोपिका सम्बन्धी संयोग-वियोग-वर्णन में भक्त और भगवान् का ही वास्तविक प्रकटीकरण है, तथापि नवीन उत्साही कवियों पर एक नई धारा प्रवाहित करने की धुन सवार हुई। सरस पद्य-रचना करने की लिप्सा में, अलंकारों के लक्षणों पर कविताएँ रची जाने लगीं। कुछ लोग और भी आगे बढ़ कर रस-निरूपणसम्बन्धी नायक-नायिका के भेद-उपभेद कर बैठे और उनके लक्षणों पर काव्यमय सरस शृङ्गारयुक्त उदाहरण लिखने लगे। इसी प्रकार की नई काव्य-धारा को इतिहासकारों ने रीति-कालीन कविता कह कर पुकारा।

रीति-कालीन कविता के विषय में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस युग का काव्य लोक-जीवन से नगण्य प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मर्यादाहीन लौकिक हास-विलास का दर्पण था। साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी अनेक संस्कृत-ग्रंथों की रचना हो चुकी थी और तद्विषयक नये ग्रंथों का निर्माण चालू था। पर इस काल के शास्त्रीय ग्रंथ कहे जाने वाले शृङ्गारी-ग्रंथों में वैसी शास्त्रीय विवेचना की कोई झलक नहीं थी। रस और अलंकार के लक्षण की आड़ में अश्लील शृङ्गार की रचनाएँ पनपने

लगीं। कृष्ण-भक्ति के नाम पर ब्रज की 'विरहिनों' के असमर्यादित चित्रण हुए। रीतिकाल की इस कविता को लोक-सहानुभूति से इसलिए भी विमुख रहना पड़ा कि अधिकतर रीतिकालीन कवि राजा-महाराजाओं के आश्रय में चैन की नींद सोते थे। अपने आश्रयदाताओं की विलास-प्रियता को तृप्त करने के लिए इन्हें रसीली-चटकीली कविताएँ रचनी पड़ती थीं। फिर इन्हें लोकहित की चिन्ता कैसे सता सकती थी।

रीतिकालीन कवियों ने नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी रस-निरूपण के अनेक अङ्गों से विरत हो नायक-नायिकाओं का भेद इस लिए भी किया था कि ब्रजविहारी कृष्ण के प्रेम-भाव के विभिन्न रूपों को उनकी भूमिकाओं के अनेक हाव-भावों के साथ चित्रित किया जा सके। इसीलिए तो हिन्दी भाषा का भक्तकालीन स्वरूप, जो गीतों के बन्धन में जकड़ा हुआ था, शास्त्र के प्राचीन छन्दों में भी पूर्णतः विकसित होता रहा।

काव्य-निर्माण करने के निमित्त रीतिकालीन कवियों में एक ऐसी परिपाटी प्रचलित हुई, जिसमें न तो वे आचार्य रूप में ही विकसित और प्रतिष्ठित हुए और न कवि के आदर्श का ही पालन कर सके। आचार्यत्व और कवित्व दो भिन्न शाखाओं को मिश्रित कर हिन्दी के कवियों ने अलग से शास्त्रीय काव्याङ्गों का स्पष्ट विवेचन करने का उत्तरदायित्व नहीं लिया। संस्कृत-साहित्य के आचार्य और कवि दो भिन्न ग्रन्थकार समझे जाते थे। उनके विषय-प्रतिपादन के क्षेत्र ही पृथक् थे। हिन्दी-साहित्य के इस काल में आचार्यत्व-प्रदर्शन

के लिए जिस सूक्ष्म दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, उसकी अधिकतर कमी ही रही। कवियों ने संक्षेप में अलङ्कारों या रसों के लक्षण लिखे और उदाहरण स्वरूप अपना कवित्व-प्रदर्शन करने के लिए वे सवैयों या कवित्तों की रचना में रम गये। अलङ्कार-ग्रन्थों का निर्माण प्रायः 'कुवलयानन्द' और 'चन्द्रालोक' के सिद्धान्तों का अनुकरण करते हुए होने लगा। अतः लक्षण-ग्रन्थों का धुँधला आभास मात्र ही रीतिकाल के काव्यों में दृष्टिगत हुआ। रीतिकाल के कवियों को रस और अलङ्कार-निरूपण-सम्बन्धी प्रेरणा देने वाले सर्वप्रथम कवि-केशवदास थे। भामह और उद्भट के काल की लक्षण-ग्रन्थ-पद्धति को अपनाकर केशव ने अपनी अलङ्कारवादिनी चमत्कार-पूर्ण परम्परा का संचालन किया। आगे के कवियों में काव्यांग-निरूपण की कुछ मौलिक विवेचना भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' में अवश्य मिलती है। अन्य सब कवियों ने तो सरस, मधुर और मनोरम कविता रचना ही अपना प्रमुख लक्ष्य समझा। शास्त्रीय विवेचना से दूर हट कर इन कवियों ने शृङ्गार के संयोग और वियोग की मुक्तक ग्रन्थ-रचना द्वारा ही शृङ्गारी काव्य-प्रियता की ओर अधिक रुचि दिखाई। नख-शिख और षट्‌ऋतु-वर्णन के काव्यों से पूर्ण पोथे पर पोथे रँगे गये।

रीतिकाल के कोमल शृङ्गारी भावों के प्रभाव से हिन्दी भाषा भी कोमलाङ्गिनी बने बिना न रही। तत्कालीन भाषा में अधिक चमक और मधुरता पाई जाती है। व्रजभाषा का विकसित माधुर्य यदि कहीं प्राप्त हो सकता है तो उसके लिए

रीति-ग्रन्थों के अतुल भाण्डार का निरीक्षण ही अनिवार्य समझना चाहिए। हिन्दी की इस सरस और कोमल शैली ने भाषाशास्त्र का बन्धन स्वीकार नहीं किया। अवधी आदि भाषाओं के मृदुल शब्द स्वच्छन्दता के साथ प्रयुक्त हुए, और परिणामतः सजीव प्रवाहयुक्त कोमल-कान्त पदावलियों की झड़ी-सी लग गई।

साहित्य-सृजन में सभी उद्देश्यों की पूर्ति होना बड़ा दुर्लभ है। रीतिकाल के कवियों ने अपनी सौन्दर्य-भावना को परम्परागत पद्धति के अनुसार प्रेम और शृङ्गार सम्बन्धी जो देन हिन्दी-साहित्य को दी, वह सराहनीय ही नहीं बल्कि उनके व्यक्तित्व को अमरत्व प्रदान करने वाली है। और इन कवियों की प्रवृत्ति लोकचिन्तन की ओर नहीं हुई अतः इस मधुर काल के शृङ्गारप्रिय कवियों और रीति-गाथा-प्रेमी आश्रयदाताओं की यह सबसे बड़ी त्रुटि समझी जानी चाहिए।

: ४ :

आधुनिक काल (पद्य)

रईसों, राजाओं और महाराजाओं का आश्रय प्राप्त कर रीति-काल की जो शृङ्गारी कविता स्वच्छन्दता के साथ विहार कर रही थी, उसका 'पद्माकर' के बाद कोई महत्त्वपूर्ण संरक्षक नहीं रहा। शृङ्गार-काल की उस रस और अलङ्कारयुक्त अश्लील नखशिख की आंधी में कविगण लोकहित की कामना से विमुख होकर कुत्सित आश्रय में जीवन व्यतीत करने

लगे थे। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जिन अभावों की पूर्त्ति के लिए ठोस विचार-प्रसार होना आवश्यक था, वह न हुआ। किन्तु सौभाग्य से हिन्दी-साहित्य की प्रगति उस पुण्य पथ की ओर उन्मुख हो रही थी, जिस पर विलास में पले हुए अनुत्तरदायी रसिक कवियों को क़दम बढ़ाना वर्जित था। जिन दिनों यह शृङ्गार-परम्परा अपने अवसान की ओर अग्रसर हो रही थी, भारत में अँग्रेज़ों का पूर्ण आधिपत्य हो चुका था। अपनी सभ्यता का प्रचार करने के लिए इन नये शासकों ने अँग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार आरम्भ कर दिया। विदेशियों के सम्पन्न साहित्य ने भारत के शिक्षित-समुदाय में एक नई जागृति-भावना का संचार किया। दासता की बेड़ियों में कसे हुए भारतीय अपनी हीनता की भावना का अनुभव करने लगे। साहित्य में क्रान्ति की एक ऐसी नई लहर उठी जो देश-प्रेम का अविरल नाद करती हुई आज तक सबल गति से हिलोरें ले रही है।

आधुनिक युग में विदेशी शासकों के सम्पर्क से जिन दूरदर्शी लोक-चिन्तक व्यक्तियों की आँखें खुल गईं, उन्होंने देश में सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों के दलदल और दुर्गन्धयुक्त वातावरण में संशोधन-कार्य का व्रत ले लिया। समाज की दुर्व्यवस्था के प्रति साहित्य की सदा सहानुभूति रही है, अतः नये कवियों ने विदेशी शासकों से सहयोग रखते हुए देश-प्रेम और भाषा-प्रेम की पुकार इस कोने से उस कोने तक पहुँचाई। महर्षि दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा

राममोहनराय आदि ऐसे ही महान् समाज-सेवक हुए जिन्होंने भारतीय दासता के मर्म को अनुभव किया। समाज-सुधार के क्षेत्र में आर्यसमाज के आन्दोलन का श्रीगणेश, ब्रह्मसमाज की स्थापना और साहित्यिक क्षेत्र में 'भारत-दुर्दशा' नाटक की रचना ने ऐसी उथल-पुथल पैदा की कि अकर्मण्य जनता ने धीरे-धीरे अपनी अलसायी आँखें खोलकर अपने चारों ओर अंधकार का अनुभव किया।

वास्तव में देखा जाय तो हमारे इन नये साहित्यिकों का प्रधान उद्देश्य अकर्मण्यता और दासता के दलदल में फँसी जनता का सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास कर उसे स्वदेशाभिमान का ज्ञान कराना था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देश-भक्ति, समाज-सुधार और हिन्दी भाषा के प्रचार का जो नेतृत्व किया, वह उनके चिरस्मरणीय आदर्श का द्योतक है। श्रीधर पाठक और उनकी श्रेणी के कवियों ने अंग्रेजी-काव्य से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी को नई सामग्री भेंट की। भारतेन्दु बाबू ने अनेक नवीन और मौलिक विषयों पर रचना कर अन्य कवियों को साहित्य के नये युग में प्रवेश करने के लिए आमंत्रित किया। मुद्रण-यंत्रों के प्रयोग ने साहित्य की इस नई काव्यधारा को और भी वेग से प्रवाहित किया।

प्रत्येक परिस्थिति अपनी अवधि पर परिवर्तित होती रहती है। भारत के विकृत वातावरण को देखकर—दासता-जन्य पतितावस्था से निकलकर, आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रारंभिक कवियों का भावुक हृदय सहृदयता से भर आया और नवीन

विचारधारा से साहित्यिक वातावरण सजग होने लगा। उधर दिल्ली से खड़ी बोली का स्रोत बह चला। मुसलमान शासकों के आधिपत्य में दिल्ली की स्थानीय भाषा ही खड़ी बोली कहाती थी। अरबी और फ़ारसी-शब्दों के सम्मिश्रण ने इसका स्वरूप और भी परिवर्त्तित कर दिया। इसी खड़ी बोली का उर्दू रूप अरबी और फ़ारसी-साहित्य से दिन-प्रतिदिन सम्पन्न होता गया। खड़ी बोली उत्तरी भारत में अधिकाधिक प्रचार पाती रही, यहाँ तक कि प्रान्त की प्रमुख भाषा यही ठहराई गई। अँग्रेज़ी भाषा का प्रचार भी पूर्व से प्रारम्भ होता चला आ रहा था। नवीन शिक्षा-प्रणाली का भाषा-माध्यम अँग्रेज़ी को ही बनना था। परिणामतः हिन्दुओं ने उर्दू और अँग्रेज़ी दोनों के साहित्यों का गंभीर अध्ययन आरम्भ कर दिया। इस प्रकार हिन्दी के साहित्यिकों ने नई-नई विचारधाराएँ एकत्र करने में विदेशी भाषाओं को भी अति उपयोगी समझा।

अभी तक हिन्दी-कविता ब्रजभाषा में ही विकसित हो रही थी। खड़ी बोली का प्रयोग केवल गद्य में किया जाता था। किंतु रीतिकालीन ब्रजभाषा की कविता और आधुनिक काल की ब्रज-भाषा-कविता में महान् अन्तर था। इस काल की कविता से शृङ्गार की अश्लील पद्धति सदा के लिए छुट्टी पा चुकी थी। उर्दू-साहित्य के सम्पर्क से हिन्दी-कविता में अनुभूतिजन्य गंभीर भावों के चित्रण की ओर कवियों की विशेष रूप से प्रवृत्ति हुई। उन पर अँग्रेज़ी लेखकों का प्रभाव भी पड़े बिना न रह सका। उनकी पुस्तकों से उठती हुई सहानुभूति की सुगन्ध से मतवाले

होकर कुछ कवि तो देश-भक्ति और राज-भक्ति में अन्तर खोजना ही भूल बैठे। इस सम्बन्ध की एक उक्ति है—

अंग्रेज़ राज-सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

अंग्रेजी-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव हमारे साहित्य पर और पड़ा। अब से पूर्व ब्रजभाषा और अवधी आदि भाषाओं की कविताओं में केवल उद्दीपन के रूप में ही कुछ प्राकृतिक उपादानों के नाममात्र आ जाते थे। किन्तु अब अँग्रेजी के विख्यात काव्य-ग्रंथों के अध्ययन से हिन्दी-कविता में भी प्रकृति का स्वच्छन्द चित्रण करने की परिपाटी प्रचलित हो गई। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा रचित प्रकृति-चित्रण के अनेक अलङ्कारयुक्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। ठा० जगमोहनसिंह ने भी इस ओर काव्य-रचना की रुचि दिखाई थी।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में, जहाँ शृङ्गार रस की कविता-पद्धति में सुधार हुए, देश-प्रेम, समाज-सुधार, प्रकृति-चित्रण और राज्य-प्रशस्ति आदि विषयों पर सुन्दर रचनाएँ हुईं, वहाँ एक सराहनीय कार्य यह भी हुआ कि ब्रज-भाषा को सरल, शुद्ध और मधुर शब्दों के भाण्डार से सजीव और सर्वप्रिय बनाया गया। प्रचलित सरल शब्दों का आधिक्य पाकर सब लोग इसके नये रूप की ओर आकर्षित हुए।

साथ ही उर्दू-भाषा के सम्पर्क से मुहावरों का प्रयोग अपनाकर ब्रजभाषा ने सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय स्थान प्राप्त कर लिया। किन्तु ब्रजभाषा के भाग्य पर आगे

चलकर भयानक वज्रपात होगा यह कौन जानता था। खड़ी बोली के प्रचार का आन्दोलन ब्रजभाषा की उत्कृष्ट विकासावस्था पर घातक सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप बेचारी ब्रजभाषा काव्य-क्षेत्र से पृथक् कर दी गई और खड़ी बोली की अभिनव कविता ने आसन जमा लिया।

खड़ी बोली की कविता

रीति-काल की शृङ्गारपूर्ण परम्परा के समाप्त होने पर भी कुछ कवियों ने ब्रजभाषा में सरस और मधुर कविताएँ लिखीं। इन कवियों में कुछ ऐसे भी थे जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुयायी थे। अतः उनके द्वारा, सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण कर समाज को जाग्रत करने का साहित्य रचा जाने लगा। देश में विदेशियों के आगमन के कारण विचार प्रकट करने की नई धारा का विकास आरंभ हो गया था। लोगों ने अपनी हीनता का भी अनुभव किया और समाज-सुधार-संबंधी कविता, नाटक तथा पत्र-पत्रिकाओं की धूम मच गई। हरिश्चन्द्र जी के सहयोगियों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, बाबू राधाकृष्णदास और प्रेमघनजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-साहित्य-उन्नायक और समाज-उद्धारक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी के निधन के पश्चात् हिन्दी-काव्य की धारा ही बदल गई।

जिस प्रकार हिन्दी-गद्य के विकास में, खड़ी बोली धीरे-धीरे निखरती चली आ रही थी, उससे लोगों ने अनुमान किया कि

खड़ी बोली का प्रयोग यदि हिन्दी-कविता में भी किया जाय तो गद्य और पद्य दोनों की समान भाषा हो जाय। इस प्रकार खड़ी बोली की कविता के पक्ष और विपक्ष को लेकर एक व्यापक आन्दोलन बन गया। बाबू हरिश्चन्द्र के काल में ही ऐसे वाद-विवाद आरंभ हो चले थे। खड़ी बोली की कविता के आन्दोलन से ही प्रभावित होकर भारतेन्दुजी ने खड़ी बोली में 'दशरथ-विलाप' लिखा।

खड़ी बोली की कविता का आदि कवि अमीर खुसरो को मान कर कुछ लोगों ने इसके इतिहास की शृङ्खला को आगे तक जोड़ना चाहा; किन्तु खुसरो के काल के बाद खड़ी बोली का थोड़ा स्वरूप कबीर, दादू आदि संत कवियों की भाषा में ही मिला। भूषण की कविता में भी कहीं-कहीं खड़ी बोली की झलक पाई जाती है। दिल्ली और मेरठ के आस-पास बोली जाने वाली भाषा ही खड़ी बोली कहलाती थी। किन्तु मुसलमान शासकों के काल में इसे उर्दू कहा जाने लगा। यही भाषा फारसी और अरबी-शब्दों के योग से ठेठ उर्दू होती गई। संस्कृत-शब्दों ने इसे खड़ी बोली बना दिया। इंशाअल्लाखाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में खड़ी बोली के पद्यों का प्रयोग किया है। इधर आगरा के प्रसिद्ध मुसलमान कवि 'नज़ीर' (संवत १७[illegible]–१८[illegible]) ने खड़ी बोली में भक्ति की अनेक कविताएँ लिखी हैं। कृष्ण के बालपन की प्रशंसा में उन्होंने लिखा है—

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥

मोहन-सरूप नृत्य करैया का बालपन।
बन-बन में ग्वाल-गौवें चरैया का बालपन॥

संवत् १६१३ के पश्चात् 'ललितकिशोरी' और 'ललितमाधुरी' नामक भक्त-कवियों ने खड़ी बोली में भूलना आदि लिखे। इसके अनंतर खड़ी बोली की कविता तीन धाराओं में विभक्त हो गई। (१) कवित्त-सवैयों की धारा, (२) उर्दू-छन्दों की धारा और (३) लावनी की धारा।

खड़ी बोली का पद्यमय प्रचार बढ़ता ही गया। मुज़फ्फ़रपुर-निवासी बाबू अयोध्याप्रसादजी ने खड़ी बोली के प्रचार में तन-मन से प्रयत्न किया। उन्होंने भाषाशास्त्र का अध्ययन किये बिना ही खड़ी बोली का प्रचार-भार अपने कन्धों पर ले लिया। अनेक विरोधों का सामना करते हुए अन्ततः उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ खड़ी बोली की कविता का श्रीगणेश कर ही दिया। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम अग्रसर होने वाले कवियों में बा० हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु), पं० चन्द्रशेखर मिश्र, पं० नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर', पं० श्रीधर पाठक और श्री 'हरिऔध' जी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

छायावाद : रहस्यवाद

कवि का उत्तरदायित्व महान् है। किसी भी देश और किसी भी काल में जागृति उत्पन्न करना देश और जाति के प्रति सच्चा अनुराग प्रदर्शित करना है। जहाँ ऊँघते, मदमाते देशवासियों की जर्जर जीवन-नौका को पार लगाने के लिए अनेक देशभक्त

कर्णधार पतवार अपने हाथ में लेते हैं, वहाँ चैतन्य भावों का भाण्डार लेकर एक कवि भी अपनी वाणी से भीषण उथल-पुथल कर सकता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने पर विदित होगा कि रीतिकालीन काव्य-परम्परा, आधुनिक काव्य-दिवाकर की द्वितीय किरण के दर्शन कर तुहिन-बिन्दु-सी विलीन हो गई। इसका कारण स्पष्ट है। आश्रयदाताओं के आश्रित कवि-मंडल में ऐश्वर्य और शृङ्गार की दुर्गन्ध आने लगी थी। और आगे चलिए, भारतेन्दु और द्विवेदी-युग की कविता में समाज की स्पष्ट छाया थी, देशभक्ति की सजीव तस्वीर थी। नई भाषा का नया ढंग था। फिर भी इस काव्य-धारा पर स्थायी बाँध लगाने के लिए विशाल प्रयत्न क्यों हुए? इसका भी कारण स्पष्ट है। जब नियमबद्ध जीवन ग्रहण कर, समाज-सुधार-सम्बन्धी राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों का राग अलापने वाला भोला उपयोगितावादी कवि गाता ही रहे, और उसकी काव्य-साधना को महत्त्व देने वाला कोई सहृदय सामने नहीं आवे, तो अन्ततः कवि बेचारा क्या अनन्त की ओर भी न देखे? स्थूल विषयों पर ठोस काव्य-रचना करते हुए, छन्दों के बन्धन में, इतिवृत्तात्मक अभिव्यंजना में, क्या उसे सुख और सन्तोष मिलेगा? कवि उस रूढ़ि-ग्रस्त काव्य-परम्परा को कभी अङ्गीकार नहीं करेगा जिसकी ध्वनि स्नेह से सुनने वाला कोई भूला-भटका भी न हो। संसार का प्रत्येक प्राणी परिवर्तन-प्रिय है। हम हिन्दी-साहित्य में 'छायावाद' के प्रवेश की बात कह रहे थे। भारत की संस्कृति और प्राचीन समाज

व्यवस्था को समझने की बुद्धि भारत के गोरे शासकों में बिल्कुल भी दिखाई नहीं दी; अतः समाज उपेक्षित रहा, पिसता रहा। वह आशा की ज्योति देख कर मुस्कराया भी किन्तु फिर वही गहन अन्धकार! कवियों ने कहा, जब संसार हमारा साथ नहीं देता, हमारे शासक हमें पशुवत् समझते हैं, तो हम क्यों ऐसे क्रूर-मण्डल से सहयोग और समझौते की बात करें। हम अपना संसार ही अलग बनाएँगे। वन-उपवन और प्रकृति हमारी क्रीड़ा-स्थली होगी। निर्झर और सरिताएँ हमारे प्रेम-मिलन के तरल तट निर्माण करेंगे। आकाश में हमारी कल्पना का सदन होगा। पर्वतों की उच्चतम चोटियों पर हमारा गौरव निवास करेगा। स्वच्छन्दता का विशाल वैभव-ध्वज क्षितिज के इस कोने से उस कोने तक फहरायेगा। कहने का प्रयोजन यह कि इन कवियों ने स्थूल जगत् से नाता तोड़ कर सूक्ष्म संसार का निर्माण कर डाला। कवियों की ठेस खाई हुई भावना भौतिकता के विरोध में भभक उठी और इसी स्थूल और सूक्ष्म के विद्रोह को लेकर जो काव्य-धारा प्रवाहित हुई, विद्वानों ने उसका नामकरण किया 'छायावाद'।

छायावादी कवियों ने स्वच्छन्द छन्दों में अपनी अनुभूतियों का नया चित्रण आरम्भ किया। पुरानी भाषा में नया जीवन उँडेला गया। देशी और विदेशी अलंकारों का संयोग कर कविता में अनोखा रंग छिड़का। शब्दों में ध्वनि का प्राधान्य पाया जाने लगा। संगीतमय काव्य की लहर ने साहित्यिक मण्डल को चकित कर दिया। इस प्रकार काव्य-शैली और

काव्य-कला-सम्बन्धी जितने भी सुन्दर परिवर्तन हो सके छायावादी कवियों ने अपने काव्यों में किये।

इस काल की कविता का रुख प्रकृति-सौन्दर्य और मानव सौन्दर्य के अन्तर्बाह्य चित्रण की ओर ही नहीं रहा, प्रत्युत कवियों ने सहृदयता से काम लेकर उपेक्षित विषयों की भी मार्मिक व्यंजना की। पन्तजी' ने 'ग्राम्या' में दुःखी भारत के हृदय से लगा कर करुणा के अश्रु बहाये। 'निरालाजी' ने 'विधवा', 'भिखारी' और 'कुकुरमुत्ता' लिखे। अनेक कवि आज जर्जर मानवता का चित्राङ्कन कर रहे हैं।

छायावादी कवियों का स्पष्ट व्यक्तित्व उनकी कविताओं में मिलेगा। प्राचीन रीति-कवियों में गिने-चुने कवि ही अपने व्यक्तित्व की झांकी अङ्कित कर पाये थे। आज तो कविता की प्रथम पंक्ति पढ़ कर ही आप कह देंगे—अमुक 'प्रसाद' की है, अमुक 'निराला' की और अमुक 'पन्त' की। 'महादेवी' की कविता के आँसू अलग झलक आते हैं। जिस कविता में कवि की आत्मा का सत्य, शिव या सुन्दर कोई भी स्वरूप हो वह कविता देश के हित में कल्याणमयी अवश्य है। छायावादी काव्य धारा के साथ ही 'रहस्यवाद' नामक एक और धारा है। कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के रहस्यमय भावों का प्रभाव हिन्दी की कविता पर पड़ा। रहस्यवाद का वास्तविक अर्थ यह है कि कविगण अपनी अनुभूति के सहारे अलौकिक रहस्यों के सम्बन्ध में अध्ययन और चिन्तन करें, और अपनी जिज्ञासा-शान्ति के परिणामस्वरूप कुछ आंशिक सिद्धांतों का प्रयोग काव्यगत—

कलामय भाषा में कर दें। वही रहस्यवादी कविता है।

छायावाद के प्रमुख कवियों ने अपने दार्शनिक विचारों की सुन्दर विवेचना की है। श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता में दुःखवाद की झलक मिलती है। उनके दार्शनिक विचारों की विवेचना बौद्ध-दर्शन के प्रभावान्तर्गत हुई है। अतः वैराग्य के रंग में ही कवयित्री ने संसार का कल्याण-गान गाया है। अद्वैतवाद की भावना को लेकर 'प्रसाद' और 'निरालाजी' ने अपने उत्तम विचार प्रकट किये हैं। हालावादी कवि 'बच्चन' ने भी अपनी 'मधुशाला' की सुन्दर प्रतिष्ठा की है। हिन्दू कवि ने मन्दिर की पावन भूमि में समाधिस्थ परमात्मा की अर्चना की। मुसलमान कवि ने मस्जिद में अपने धर्म की प्रचार-भूमि निर्माण की। इधर स्वच्छन्दवादी (छायावादी) काव्य-परम्परा के कवि 'बच्चन' ने भी अपने दार्शनिक सिद्धांतानुसार 'मधुशाला' में मादक सुगन्ध से पूर्ण 'मधुकलश' के निकट एक 'मधुबाला' को बैठाया है।

आधुनिक काल [गद्य]

जितना साहित्य हिन्दी-पद्य में प्राचीन कलाकारों ने निर्मित किया, उतना गद्य में उपलब्ध नहीं होता। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग से पूर्व के साहित्य में यदि थोड़ा-बहुत गद्य-साहित्य था, तो ब्रजभाषा में ही उसका स्वरूप देखने को मिलता था। कुछ गद्य-ग्रन्थ गोरख-पंथियों के साहित्य से प्राप्त हुए हैं, किन्तु अधिकांश ब्रजभाषा का गद्य भक्तिकाल की कृष्ण-भक्ति-

भाषा-गद्य का प्रयोग किया, किन्तु उस भाषा में प्रकटीकरण की शक्ति नहीं है। वाक्यों के अर्थ असंबद्ध हैं। यदि उदाहरण-स्वरूप प्राचीन गद्य के विकसित रूप को प्रदर्शित करना ही हो, तो नीचे दिये हुए उद्धरण का प्रयोग किया जा सकता है—

"सो राजभोग आरती करिकें श्री गुसाईंजी श्री गिरराज ते नीचे उतरे सो आप परासोली पधारे। भीतरिया सेवक रामदासजी प्रभृति और कुम्भनदासजी और श्री गुसाईं के सेवक गोविन्दस्वामी चत्रभुजदास प्रभृति और सब श्री गुसाईंजी के साथ आए। सो आवत ही सूरदासजी सों श्री गुसाईंजी ने पूछौ जो सूरदासजी कैसे हो? तब सूरदासजी ने श्री गुसाईंजी को दंडौत करिकें कह्यौ, जो महाराज आए हौ महाराज की बाट देखत हुतौ। यह कहिकें सूरदासजी ने एक पद गायौ।......"

इस प्रकार की रचनाएँ कुछ समय तक होती रहीं, और जब गद्य के लिए खड़ी बोली का क्षेत्र विशेष रूप से तैयार हो गया तो ब्रज-भाषा-गद्य की प्रगति जहाँ की तहाँ रुक कर रह गई।

मुसलमान शासकों के काल में दिल्ली और मेरठ के आसपास जो भाषा बोली जाती थी वही आधुनिक हिन्दी-गद्य की प्रारम्भिक अवस्था थी। कुछ समय तक यह भाषा एक सीमित क्षेत्र में ही प्रचार पाती रही, किन्तु जब दिल्ली मुसलमान शासकों की राजधानी बनी, तो राज्य की ओर से भी यही भाषा अपनाई गई। राज्य की भाषा का दूर-दूर तक प्रचार होना स्वाभाविक ही था। वही भाषा आज खड़ी बोली के नाम से गद्य और पद्य दोनों के साहित्य का आधार बनी हुई विकसित हो रही है।

आरम्भ में विदेशी मुसलमानों को भारतवर्ष के दिल्ली केन्द्र के आस-पास की खड़ी बोली को समझने में कठिनाई का सामना करना पड़ता था। अतः धीरे-धीरे उन्होंने इस भाषा पर अपनी संस्कृति का रंग चढ़ाना आरम्भ किया। अरबी-फ़ारसी और तुर्की शब्दों के मिलाप से हिन्दी का वह स्वरूप (बुन्देलखण्डी हिंदी, बैसवाड़ी हिंदी आदि की भांति) 'उर्दू-हिंदी' नाम से पुकारा जाने लगा। इधर हिन्दी अपना अलग विकास पाने लगी थी। उर्दू भी अरबी-फ़ारसी के व्याकरण का आधार पाकर अपना निजी साहित्य-भाण्डार भरती रही। जब अंग्रेज़ों की पताका दिल्ली के दुर्ग पर फहराने लगी तो हिन्दी-व्याकरण का आधार लेकर 'हिन्दुस्तानी' का जन्म हुआ। इस हिन्दुस्तानी भाषा में हिन्दी और उर्दू दोनों के प्रचलित शब्द सम्मिलित किये गये।

जिस 'हिन्दुस्तानी' का प्रयोग अभी तक केवल बोलचाल की भाषा में ही हो रहा था, वह आज हिन्दी और उर्दू की प्रतिद्वन्द्विनी बनी हुई है। राष्ट्र के उच्चतम नेता महात्मा गाँधी का आदेश है कि 'हिन्दुस्तानी' में साहित्य-सृजन हो ताकि इस बोलचाल की भाषा में लिखे गये लेख जन-साधारण तक पहुँचें और वे जनता के कल्याण का कारण बनें। कुछ भी हो, हिन्दी का हिन्दुस्तान में विशेष रूप से वन्दनीय स्थान है। हिन्दी की पावन धारा उन्नत हिमशिखरों से उतरकर भागीरथी की भांति मनुष्य-मात्र का कल्याण करती हुई पृथ्वी पर प्रवाहित है। इसका साहित्य-सृजन कभी शिथिल न हो सकेगा। यों हिन्दु-

स्तानी में भी साहित्य-सृजन की अत्यावश्यकता है, किन्तु भारतीय राष्ट्र की मूल राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है। क्योंकि भारत के अधिकतर निवासी इसका प्रयोग करते हैं। उर्दू और हिन्दुस्तानी इसकी शाखाएँ बन कर अपनी उन्नति करें तो इसमें हिन्दी का ही गौरव है।

हम खड़ी बोली के गद्य के विषय में कह रहे थे। इस बोली का गद्य इसके पद्य के समान प्राचीन नहीं है। वास्तव में किसी वस्तु की आवश्यकता जब अनुभव की जाती है, तो शीघ्र ही इसके आविष्कर्ता का आविर्भाव होता है। मुसलमानों के शासन में खड़ी बोली का दूर-दूर तक प्रचार हुआ। किन्तु जब अंग्रेज़ लोग भारत में आये तो अपने साथ व्यापार-वाणिज्य के विभिन्न साधन लाये। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार ने नये वैज्ञानिक साहित्यों के प्रचार में भारी सहयोग दिया। समाज में भौतिकवाद की लहर-सी दौड़ गई। ऐसी दशा में विचारों का प्रकटीकरण और भिन्न-भिन्न विषयों की विवेचना व समीक्षा की आवश्यकता हुई और खड़ी बोली के गद्य का उदय भी शनैः शनैः होने लगा। हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास-क्रम पर विस्तार भय से हम यहाँ विचार नहीं करेंगे; इसके लिए तो एक पृथक् प्रबन्ध की आवश्यकता है। यहाँ तो यह कह देना ही काफ़ी है कि हिंदी के प्रतिभावान् गद्यकारों की सतत साधना के फलस्वरूप आज का हिन्दी-गद्य-साहित्य उन्नतशील और प्रगतिशील है।

जो राजपूत वंश का सिरमौर था। उसका समय १२वीं शताब्दी का अंतिम भाग है। लंदन की 'एशियाटिक सोसाइटी' के पुस्तकालय में मेजर काफ़िल्ड द्वारा प्रदत्त चन्द के ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति है, और मेकेंजी* की हस्तलिखित पुस्तकों के संग्रह में भी इसकी एक प्रति मौजूद थी। रावर्ट लिंज नामक एक रूसी विद्वान् ने अपनी (भारत ?) यात्रा से लौट-कर इसके एक भाग का अनुवाद, सन् १८३६ ई० में सेंट-पीटर्सवर्ग से, प्रकाशित कराया था। किन्तु उसकी असामयिक मृत्यु ने प्राच्य विद्या-प्रेमियों को उसका मनोरम यात्रा-विवरण जानने से, एक प्रकार से, वंचित रखा।

'रायल एशियाटिक-सोसाइटी' की हस्तलिखित प्रति के मुख-पृष्ठ पर फ़ारसी में इस प्रकार लिखा हुआ है:—

चन्दबरदाई द्वारा लिखित पिंगल-भाषा (हिन्दोस्तानी पद्य) में पृथुराज का इतिहास। स्वर्गीय जेम्सटॉड ने अपने राज-पूताने के इतिहास में† इस ग्रन्थ के एक बड़े भाग को उद्धृत किया है। उसने स्वयं इसके एक बड़े भाग का अनुवाद किया था; किन्तु मृत्यु के कारण न तो वह अपनी यात्रा समाप्त कर सका और न उसे प्रकाशित करने में ही समर्थ हो सका। उसने चन्द की इस ऐतिहासिक कविता की केवल एक उल्लेख-नीय घटना का अनुवाद प्रकाशित कराया था जो 'संगोप्ता

---

*मेकेंजी का संग्रह भाग २, पृ० ५११

†विद्वानों के जर्नल सन् १८३१, पृ० ७ तथा सन् १८३२, पृ० ४२० में म० द सासी के लेख।

(संयोगिता ?) के प्रण' के नाम से विख्यात है। किन्तु इसकी प्रतियों का वितरण भी उसने केवल अपने कतिपय मित्रों ही तक सीमित रखा। नवीन संस्करण के एशियाटिक-सोसाइटी के जर्नल के २५ वें भाग में किसी व्यक्ति ने उस अनुवाद को पुनः प्रकाशित कराया है। अन्त में चन्द की कविता के सम्बन्ध में टॉड❀ की जो सम्मति है, वह नीचे उद्धृत की जाती है:—

चन्द का ग्रन्थ उसके समय का स्वाभाविक इतिहास है। इसमें ६६ भाग [समय] तथा एक लाख पद हैं, जिनमें पृथ्वी-राज के पराक्रम का वर्णन है, किन्तु इसके साथ-ही-साथ इसमें प्रत्येक उच्च राजपूत-वंश के पूर्व-पुरुषों का उल्लेख भी मिलता है। यही कारण है कि राजपूत-नाम-धारी प्रत्येक वंश के संग्रहालय में यह ग्रन्थ सुरक्षित मिलता है। पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों तथा अधीनस्थ अनेक शक्तिशाली राजाओं एवं उनके भवनों तथा वंश का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चन्द का यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजपूताने के इतिहास तथा भूगोल के साथ-साथ इस ग्रन्थ में दन्तकथाओं आदि का भी वर्णन मिलता है।

मुझे विश्वास है कि कुछ लोगों ने इस लेखक को 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्र भाट' और इसके ग्रन्थ को 'पृथुराज-राजसू' के नाम से सम्बोधित किया है। 'राजसू' से राजसूययज्ञ' का तात्पर्य है।❀

वार्ड ने 'हिन्दू-साहित्य तथा दन्तकथाओं के इतिहास'

❀मूल अंग्रेजी में टाडराजस्थान, भाग १ पृ० २५४

भाग २ पृष्ठ ४८२ में इस ग्रन्थ की चर्चा की है, जिसमें उसने इसका हिन्दी की कन्नौजी बोली में लिखे जाने का उल्लेख किया है।

मेरे विचार में यह वही ग्रन्थ है जिसका एशियाटिक-सोसाइटी, कलकत्ता के जर्नल* में 'पृथ्वीराज-भाषा तथा उसके कैटलॉग में 'बियाना+ के प्रथम सम्राट् पृथुराजका 'पराक्रम' नाम मिलता है।

चन्द ने 'जयचन्द्रप्रकाश' अर्थात् 'जयचन्द्र का इतिहास' नामक भी एक ग्रन्थ लिखा है। पहले ग्रन्थ (रासो) की तरह यह भी कन्नौजी बोली में लिखा गया है और वार्ड ने इसका भी उल्लेख किया है।

कवि-परिचय

परम्परानुसार तासी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। प्रसिद्ध है कि ये पृथ्वीराज के साथ ही सम्वत् ११५१ में पैदा हुए थे। इनका जन्म-स्थान लाहौर बतलाया जाता है। ये 'जगातिगोत्र' के भट्टब्राह्मण थे तथा इनके पूर्वज पंजाब के रहने वाले थे। चन्द पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, अपितु सखा और सामन्त भी थे। षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में ये पूर्णतया दक्ष थे। इनका जीवन पृथ्वीराज से बिल्कुल मिला हुआ था। सभा, युद्ध, आखेट तथा यात्रादि में ये सदैव महाराजा के साथ रहा

---

*इस्त्वार द ला लितरेत्योर ए द ला माइथालोजी दे हिन्दोज़।

+१८३५ पृ० ४५ आगरा प्रान्त का एक नगर।

करते थे। जब शहाबुद्दीन ग़ौरी, पृथ्वीराज को कैद करके ग़ज़नी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे। जाते समय 'रासो' को अपने प्रिय पुत्र जल्हन को पूरा करने के लिए दे गये। जिस प्रकार 'कादम्बरी' को 'बाणभट्ट' के पुत्र ने पूरा किया था, उसी प्रकार जल्हन ने भी हिन्दी के इस महाकाव्य को पूरा किया। रासो में इसका उल्लेख इस प्रकार है:—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।'

× × ×

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चन्द कृत, चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

ग़ज़नी की भरी सभा में, एक दिन, जब कौतुक आदि हो रहे थे, ये बादशाह से मिले और पृथ्वीराज के शब्द-वेधी बाण चलाने की कुशलता की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह ने पृथ्वीराज को बाण चलाने की आज्ञा दी। चन्द का इशारा पाते ही उन्होंने ऐसा बाण मारा कि शाह धराशायी हो गया। उसके मरते ही चन्द ने म्यान से कटार निकालकर अपना काम तमाम किया और फिर उसे पृथ्वीराज को दे दी।

पृथ्वीराजरासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म—संवत् ११५१ है जिसकी आनन्द संवत् से गणना करने पर वि० सं० १२०६ निकलता है। इधर ओझा जी ने 'कोषोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित एक लेख में, शिलालेखों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह तिथि

सर्वथा अशुद्ध है।* किन्तु कविराव मोहनसिंह ने अन्य तर्क-संगत प्रमाणों पर विचार कर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज का जन्म-संवत् १२०६ वि० मानना भ्रमपूर्ण नहीं है।¶ दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किये हुए तर्कों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना आवश्यक है कि यदि जनश्रुति तथा आनन्द-संवत् की कल्पना पर विश्वास किया जाय तो चन्द का जन्म सं० १२०६ वि० में सिद्ध होता है।

किन्तु इधर श्री अगरचंद नाहटा को रासो की जो प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें पहला पद्य तो है ही नहीं और दूसरे पद्य में 'चंदनन्द' के स्थान पर 'चंद्रसिंह उद्धरिय तिमि' स्पष्ट मिलता है। अतः नाहटा जी ने जल्हण की अपेक्षा 'चंद्र-सिंह' को ही रासो का वास्तविक उद्धारकर्ता माना है। †

इस प्रकार चंद की जीवनी के संबंध में जितनी सामग्री इस समय उपलब्ध है, सभी संदिग्ध है और इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है। जनश्रुति तो ग़ज़नी की भरी सभा में चंद के संकेत पर अंधे पृथ्वीराज द्वारा वाण

---

*कोषोत्सव-स्मारक-संग्रह, 'पृथ्वीराजरासो का निर्माणकाल' पृ० ५३

¶राजस्थान-भारती, भाग १, अंक, २—३ 'पृथ्वीराजरासो पर पुनर्विचार', पृ० ४३।

†'राजस्थानी', पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ पृ० १४

करते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी, पृथ्वीराज को कैद करके गज़नी ले गया तब चन्द भी वहाँ पहुँचे। जाते समय 'रासो' को अपने प्रिय पुत्र जल्हन को पूरा करने के लिए दे गये। जिस प्रकार 'कादम्बरी' को 'बाणभट्ट' के पुत्र ने पूरा किया था, उसी प्रकार जल्हन ने भी हिन्दी के इस महाकाव्य को पूरा किया। रासो में इसका उल्लेख इस प्रकार है:—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।'

× × ×

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चन्द कृत, चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

गज़नी की भरी सभा में, एक दिन, जब कौतुक आदि हो रहे थे, ये बादशाह से मिले और पृथ्वीराज के शब्द-वेधी बाण चलाने की कुशलता की बड़ी प्रशंसा की। बादशाह ने पृथ्वीराज को बाण चलाने की आज्ञा दी। चन्द का इशारा पाते ही उन्होंने ऐसा बाण मारा कि शाह धराशायी हो गया। उसके मरते ही चन्द ने म्यान से कटार निकालकर अपना काम तमाम किया और फिर उसे पृथ्वीराज को दे दी।

पृथ्वीराजरासो के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म—संवत् ११५१ है जिसकी आनन्द संवत् से गणना करने पर वि० सं० १२०६ निकलता है। इधर ओझा जी ने 'कोषोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित एक लेख में, शिलालेखों तथा ऐतिहासिक उल्लेखों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह तिथि

सर्वथा अशुद्ध है।❀ किन्तु कविराव मोहनसिंह ने अन्य तर्क-संगत प्रमाणों पर विचार कर यह सिद्ध किया है कि पृथ्वीराज का जन्म-संवत् १२०६ वि० मानना भ्रमपूर्ण नहीं है।¶ दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत किये हुए तर्कों का विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना आवश्यक है कि यदि जनश्रुति तथा आनन्द-संवत् की कल्पना पर विश्वास किया जाय तो चन्द का जन्म सं० १२०६ वि० में सिद्ध होता है।

किन्तु इधर श्री अगरचंद नाहटा को रासो की जो प्राचीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें पहला पद्य तो है ही नहीं और दूसरे पद्य में 'चंदनन्द' के स्थान पर 'चंद्रसिंह उद्धरिय तिमि' स्पष्ट मिलता है। अतः नाहटा जी ने जल्हण की अपेक्षा 'चंद्र-सिंह' को ही रासो का वास्तविक उद्धारकर्ता माना है। †

इस प्रकार चंद की जीवनी के संबंध में जितनी सामग्री इस समय उपलब्ध है, सभी संदिग्ध है और इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है। जनश्रुति तो ग़ज़नी की भरी सभा में चंद के संकेत पर अंधे पृथ्वीराज द्वारा बाण

❀कोषोत्सव-स्मारक-संग्रह, 'पृथ्वीराजरासो का निर्माणकाल' पृ० ४३

¶राजस्थान-भारती, भाग १, अंक, २—३ 'पृथ्वीराजरासो पर पुनर्विचार', पृ० ४३।

†'राजस्थानी', पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ पृ० १४

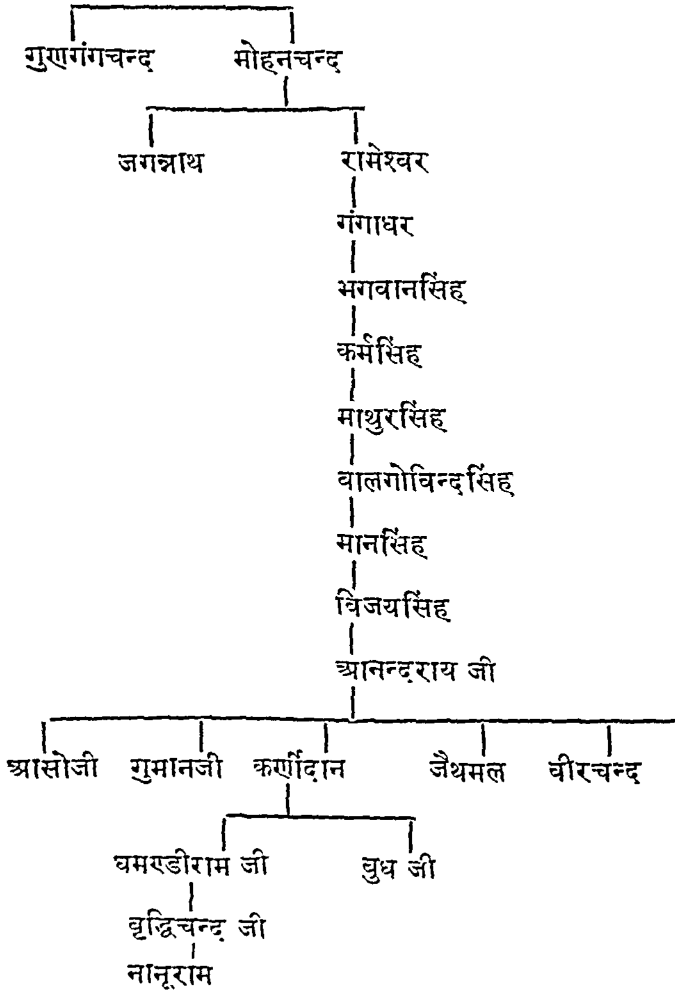
चलाकर गोरी का वध करने और फिर चंद तथा पृथ्वीराज दोनों के आत्महत्या करने का निर्देश करती है।

महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री की खोज के आधार पर आचार्य-प्रवर पं० रामचंद्र जी शुक्ल ने चंद के विषय में निम्नलिखित सामग्री अपने 'हिंदी-साहित्य के इतिहास' में उपस्थित की है।* आप लिखते हैं—

'महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १६०६ से १६१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। उस विवरण में पृथ्वीराजरासो के विषय में बहुत कुछ लिखा है और कहा गया है कि कोई-कोई तो चंद के पूर्व-पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर में हुआ था। कहते है कि चंद, पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राज-कवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्री जी का कहना है कि नागौर में अब तक चंद के वंशज रहते हैं। इसी वंश के प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्री जी की भेंट हुई। उनसे उन्हें चंद का वंशवृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है:—

*हिन्दी साहित्य का इतिहास [नवीन संस्करण] पृ० ५४-५५

चंदवरदाई
- गुणचन्द
- जल्लचन्द
  - सीताचन्द
    - वीरचन्द
      - हरिचन्द
        - रामचन्द
          - विष्णुचन्द
          - उद्धरचन्द
          - रूपचन्द
          - वुद्धचन्द
            - खेमचन्द
            - गोविंदचन्द
              - जयचन्द
                - मदनचन्द
                  - चौथचन्द
                  - वेनीचन्द
                    - गोकुलचन्द
                      - कर्णचन्द
                    - वसुचन्द
                    - लेखचन्द
                - शिवचन्द
                - वलदेवचन्द
          - देवचन्द
          - सूरदास
- +
- +


गुणगंगचन्द
मोहनचन्द
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
माथुरसिंह
वालगोविन्दसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
आनन्दराय जी
आसोजी
गुमानजी
कर्णीदान
जैथमल
वीरचन्द
घमण्डीराम जी
बुध जी
वृद्धिचन्द जी
नानूराम

नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे, जिनमें से एक मुसलमान हो गया, दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर में जा बसे और चौथे जल्ल का वंश नागौर में चला गया। पृथ्वीराजरासो में चन्द के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है:—

दहति पुत्र कविचन्द के, सुन्दर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन बावरो गुन-समुन्द ससभान॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चन्द के दसों पुत्रों के नाम दिये हैं। सूरदास की 'साहित्यलहरी' की टीका में एक पद ऐसा आया है, जिसमें सूर की वंशावली दी है। वह पद यह है:—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चन्द चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचन्द ता सुत सीलचन्द सरूप।
वीरचन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति संग खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचन्द अति विख्याय॥

आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर ।
पुत्र जन्मे सात ताके महाभट गम्भीर ॥
कृष्णचन्द उदारचन्द जु रूपचन्द सुभाई ।
बुद्धिचन्द प्रकास चौथे चन्द भे सुखदाइ ॥
देवचन्द प्रबोध संसृतचन्द ताको नाम ।
भयो सप्तो नाम सूरज चन्द मन्द निकाम ॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रगट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लचन्द की वंश-परम्परा में बताया है, सूरदास जी उन्हें गुणचन्द की परम्परा में कहते हैं। शेष नाम प्रायः मिलते हैं।

पृथ्वीराजरासो के सम्बन्ध में—

चन्द के सम्बन्ध में जो वृत्तान्त उपलब्ध है, उसे ऊपर दिया गया है। अब नीचे रासो की संक्षिप्त कथा, उसकी प्रामाणिकता तथा भाषा आदि के सम्बन्ध में विचार किया जायगा। रासो एक प्रबन्ध-काव्य है। यह लगभग २५०० पृष्ठों तथा ६९ समयों में समाप्त हुआ है। इसका अन्तिम अर्थात् ६९ वाँ 'महोबा समय' है, जिसमें पृथ्वीराज और महोबा के राजा 'परमाल' के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रन्थ सम्वाद-रूप में है, अर्थात् कवि की धर्मपत्नी प्रश्न करती है और वह उसका उत्तर देता है। इसमें आबू के यज्ञ-कुंड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों की अजमेर में राजस्थापना से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का विस्तृत वर्णन है।

रासो में लिखा है कि जिस समय सोमेश्वर चौहान शाकम्भरी देश में राज्य करते थे और अपनी राजधानी अजमेर में रहते थे, उस समय अनंगपाल तोमर दिल्ली के और विजयपाल कमध्वज कन्नौज के राजा थे। किसी कारण से विजयपाल ने दिल्ली पर चढ़ाई की। अनंगपाल ने दूत भेजकर सोमेश्वर से सहायता माँगी। सोमेश्वर सेना सहित दिल्ली की रक्षा करने के लिए गये तथा दोनों राजाओं ने परामर्श कर दिल्ली की रक्षा की। विजयपाल उस समय उत्तरभारत में चक्रवर्ती अर्थात् सम्राट् माने जाते थे। उनके पास अगणित सेना थी, उन्होंने दिग्विजय भी की थी परन्तु वे दिल्ली को जीत न सके।

अनंगपाल सन्तानहीन थे। उनकी दो कन्याएँ थीं। छोटी का नाम था कमला और बड़ी का सुरसुन्दरी। उन्होंने सोमेश्वर के साथ कमला का विवाह कर दिया। परन्तु विजयपाल भी सेना लिये पड़े थे, अतएव उनसे सुरसुन्दरी का विवाह करके सन्धि कर ली। कमला के गर्भ से पृथ्वीराज का जन्म हुआ।

विजयपाल के पुत्र जयचन्द उनके मरने पर कन्नौज के राजा हुए। परन्तु रासो में यह नहीं लिखा है कि जयचन्द सुरसुन्दरी के गर्भ से थे या किसी और रानी के गर्भ से। पृथ्वीराज का जन्म सन् ११४८ (वैशाख सम्वत् १२०५) में हुआ था। रासो में केवल एक स्थान (४८ समय) पर जयचन्द ने पृथ्वीराज से कहा है, "मातुल हम तुम इक" पर इस सम्बन्ध का और कहीं उल्लेख नहीं है।

जब अनंगपाल वृद्धावस्था में बदरीनारायण की यात्रा के

लिए जाने लगे, तब राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को सौंप गये। आगे चलकर पिता की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वीराज अजमेर तथा दिल्ली दोनों के स्वामी बन गये।

पृथ्वीराज की समृद्धि से जयचन्द मन ही मन कुढ़ने लगा। उसने अपना एक-छत्र राज्य स्थापित करने के लिए राजसूय-यज्ञ की रचना की और साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयम्वर भी रचा। इस यज्ञ में पृथ्वीराज को निम्नकोटि का कार्य सौंपा गया अतएव वह सम्मिलित नहीं हुआ। उसकी अनुपस्थिति में एक स्वर्ण-मूर्ति बनाकर द्वारपाल के स्थान पर रख दी गई। संयोगिता पृथ्वीराज को पहले से ही प्रेम करती थी। वह सब ओर से घूम आई और अन्त में उसने मूर्त्ति के गले में ही जयमाल डाल दी।

जयचन्द अपनी पुत्री के इस कृत्य से अत्यन्त रुष्ट हुआ और गंगा किनारे एक महल में उसे निर्वासन-दण्ड दिया। इधर पृथ्वीराज को जब समाचार मिला तो वे चन्द के साथ एक धनवान् विदेशी युवक के वेश में वहाँ जा पहुँचे। उस महल में पृथ्वीराज का संयोगिता से विधिपूर्वक विवाह हुआ। रात को ही संयोगिता को साथ लेकर वे चन्द के स्थान पर चले आये। दूसरे दिन सवेरे ही वे दिल्ली चलने को तैयार हुए। चलते समय उन्होंने कवि चन्द से कहा कि जयचन्द को संयोगिता के विवाह और दिल्ली जाने का संवाद दे आओ। कवि ने कहा—'अब तुम्हारी आशा पूरी हो गई है, घर चलो, क्यों झगड़ा बढ़ाते हो?' परन्तु पृथ्वीराज नहीं माना। उसने कहा—मैं चोर

नहीं हूँ। मैं विना सूचना दिये न जाऊँगा; जिसमें साहस और वल हो, मुझे रोके।

कवि चन्द ने जयचन्द की सभा में जाकर कहा—'दिल्लीश्वरी महाराणी संयोगिता अपने पति के घर जा रही हैं, वे अपने पिता के आशीर्वाद की अपेक्षा कर रही हैं।' यह समाचार सुनकर जयचन्द अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने अपने सेनापति तथा सामन्तों को पृथ्वीराज और संयोगिता को जीवित पकड़ लाने की आज्ञा दी। मार्ग में घोर युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में पृथ्वीराज सकुशल दिल्ली पहुँच गये।

उधर शहावुद्दीन ग़ौरी अपने एक पठान सरदार की प्रेमिका—चित्ररेखा पर मुग्ध हो गया। यह सरदार भागकर पृथ्वीराज की शरण में आ पहुँचा। ग़ौरी ने उसे लौटा देने के लिए कहला भेजा किन्तु शरणागत-रक्षा में तत्पर पृथ्वीराज उसकी वात स्वीकार न कर सके। इसके परिणाम-स्वरूप ग़ौरी तथा पृथ्वीराज में कई युद्ध हुए जिनमें ग़ौरी वरावर पराजित हुआ। अन्त में वह छल से पृथ्वीराज को ग़ज़नी पकड़ ले गया। वहाँ पृथ्वीराज ने उसे शब्दवेधी-वाण से मारकर आत्म-हत्या कर ली।

ऊपर, संक्षेप में 'रासो' के कथा-भाग के विषय में लिखा गया है। इसके समयों के अध्ययन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ घटनाओं का कवि ने वहुत ही विपद वर्णन किया है। विशेषतया पृथ्वीराज की अनेक युद्धों, उसका कई राजकुमारियों से विवाह तथा आखेट आदि का वड़ा ही रोचक वर्णन किया है। वीर-रस के साथ-साथ शृंगार-रस का वर्णन

लिए जाने लगे, तब राज्य अपने दौहित्र पृथ्वीराज को सौंप गये। आगे चलकर पिता की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वीराज अजमेर तथा दिल्ली दोनों के स्वामी बन गये।

पृथ्वीराज की समृद्धि से जयचन्द मन ही मन कुढ़ने लगा। उसने अपना एक-छत्र राज्य स्थापित करने के लिए राजसूय-यज्ञ की रचना की और साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयम्वर भी रचा। इस यज्ञ में पृथ्वीराज को निम्नकोटि का कार्य सौंपा गया अतएव वह सम्मिलित नहीं हुआ। उसकी अनुपस्थिति में एक स्वर्ण-मूर्ति बनाकर द्वारपाल के स्थान पर रख दी गई। संयोगिता पृथ्वीराज को पहले से ही प्रेम करती थी। वह सब ओर से घूम आई और अन्त में उसने मूर्त्ति के गले में ही जयमाल डाल दी।

जयचन्द अपनी पुत्री के इस कृत्य से अत्यन्त रुष्ट हुआ और गंगा किनारे एक महल में उसे निर्वासन-दण्ड दिया। इधर पृथ्वीराज को जब समाचार मिला तो वे चन्द के साथ एक धनवान् विदेशी युवक के वेश में वहाँ जा पहुँचे। उस महल में पृथ्वीराज का संयोगिता से विधिपूर्वक विवाह हुआ। रात को ही संयोगिता को साथ लेकर वे चन्द के स्थान पर चले आये। दूसरे दिन सवेरे ही वे दिल्ली चलने को तैयार हुए। चलते समय उन्होंने कवि चन्द से कहा कि जयचन्द को संयोगिता के विवाह और दिल्ली जाने का संवाद दे आओ। कवि ने कहा—'अब तुम्हारी आशा पूरी हो गई है, घर चलो, क्यों झगड़ा बढ़ाते हो?' परन्तु पृथ्वीराज नहीं माना। उसने कहा—मैं चोर

नहीं हूँ। मैं विना सूचना दिये न जाऊँगा; जिसमें साहस और वल हो, मुझे रोके।

कवि चन्द ने जयचन्द की सभा में जाकर कहा—'दिल्लीश्वरी महाराणी संयोगिता अपने पति के घर जा रही हैं, वे अपने पिता के आशीर्वाद की अपेक्षा कर रही हैं।' यह समाचार सुनकर जयचन्द अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने अपने सेनापति तथा सामन्तों को पृथ्वीराज और संयोगिता को जीवित पकड़ लाने की आज्ञा दी। मार्ग में घोर युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में पृथ्वीराज सकुशल दिल्ली पहुँच गये।

उधर शहाबुद्दीन ग़ौरी अपने एक पठान सरदार की प्रेमिका—चित्ररेखा पर मुग्ध हो गया। यह सरदार भागकर पृथ्वीराज की शरण में आ पहुँचा। ग़ौरी ने उसे लौटा देने के लिए कहला भेजा किन्तु शरणागत-रक्षा में तत्पर पृथ्वीराज उसकी वात स्वीकार न कर सके। इसके परिणाम-स्वरूप ग़ौरी तथा पृथ्वीराज में कई युद्ध हुए जिनमें ग़ौरी वरावर पराजित हुआ। अन्त में वह छल से पृथ्वीराज को ग़ज़नी पकड़ ले गया। वहाँ पृथ्वीराज ने उसे शब्दवेधी-वाण से मारकर आत्म-हत्या कर ली।

ऊपर, संक्षेप में 'रासो' के कथा-भाग के विषय में लिखा गया है। इसके समयों के अध्ययन से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ घटनाओं का कवि ने वहुत ही विषद वर्णन किया है। विशेषतया पृथ्वीराज की अनेक युद्धों, उसका कई राजकुमारियों से विवाह तथा आखेट आदि का वड़ा ही रोचक वर्णन किया है। वीर-रस के साथ-साथ शृंगार-रस का वर्णन

भी 'रासो' में खूब मिलता है। किन्तु इसमें प्रकृति-वर्णन का सर्वथा अभाव है।

क्या पृथ्वीराजरासो महाकाव्य है ?

बाबू श्यामसुन्दरदास ने रासो को महाकाव्य न मान कर उसे विशालकाय* वीर-काव्य ही कहना उचित समझा है। अब प्रश्न यह उठता है कि 'पृथ्वीराजरासो' महाकाव्य है, अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में महाकाव्य के विषय में भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है।

संस्कृत-लक्षणग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य का सर्गबद्ध होना आवश्यक है। इसका नायक देवता अथवा धीरोदात्त क्षत्रिय होना चाहिए। एक ही उच्च कुल में उत्पन्न अनेक क्षत्रिय भी नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर अथवा शांत में कोई एक प्रधानरस के रूप में होना चाहिए और साथ ही सारे रस-रसांगों का भी आयोजन गौणरूप से होना चाहिए। सभी नाटकीय संधियों का नियोजन होना चाहिए। महाकाव्य की कथा इतिहास-प्रसिद्ध होनी चाहिए। काव्य के अंतर्गत संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, संभोग—विप्रलंभ, रण-प्रयाण, पुत्र-जन्म, नदी-तालाब-समुद्र आदि का वर्णन भी आवश्यक है।

पाश्चात्य आलोचकों ने महाकाव्य (एपिक) की चर्चा करते हुए जिन उपकरणों को आवश्यक बतलाया है, उनमें परस्पर बड़ा मतभेद है।

फ्रेंच आलोचक 'ल वस्सु'* के अनुसार महाकाव्य, प्राचीन घटनाओं को चित्रित करने के लिए एक पद्यबद्ध रूपक है। उसके विचार में होमर इस बात को खूब समझता था कि ग्रीस की रियासतों की पारस्परिक कलह जनता के हित की दृष्टि से अहितकर है। अतएव लोगों को शिक्षा देने के लिए ही उसने 'इलियड' में ट्राय के युद्ध की कल्पना की।

एक अन्य आलोचक 'डेवनांट' का कथन है कि महाकाव्यों की आधार-भूत घटनाएँ प्राचीन ही होनी चाहिएँ, क्योंकि अर्वाचीन घटनाओं की अपेक्षा प्राचीन घटनाओं के चित्रण में अवश्य ही कवि कल्पना की ऊँची उड़ान ले सकता है। इसके अतिरिक्त उसे इस प्रकार की घटनाओं के चित्रण में अपेक्षाकृत स्वतंत्रता भी रहती है।

'लुकन' के विचार में प्राचीन घटनाओं की अपेक्षा अर्वाचीन घटनाओं को ही महाकाव्य की पृष्ठभूमि बनाना युक्तियुक्त होगा। इससे एक लाभ यह होगा कि उसमें वर्णित चरित्रों की सजीव प्रतिमा जनता के हृत्पटल पर अंकित हो जायगी।

'टैसो' ने मध्य मार्ग का अवलम्बन करते हुए यह विचार उपस्थित किया है कि घटनाएँ न तो अत्यन्त प्राचीन होनी चाहिएँ और न अत्यन्त नवीन ही।

जिस प्रकार घटना के सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचक एकमत नहीं, उसी प्रकार घटना-काल के सम्बन्ध में भी उनके

---

*डिक्सन कृत 'एपिक एण्ड हिरोयिक पोयट्री' पृ० १।

विचार एक-दूसरे से भिन्न हैं। घटनाकाल से तात्पर्य यह है कि महाकाव्य में अंततोगत्वा कितने समय की घटनाओं का चित्रण किया जाय। एक आलोचक का कथन है कि महाकाव्य में केवल एक वर्ष की घटनाओं का समावेश होना चाहिए, किन्तु दूसरे का कथन है कि इसमें नायक के संपूर्ण जीवन का चित्रण आवश्यक है।

महाकाव्य का नायक युद्धप्रिय होना चाहिए। केवल एक व्यक्ति के चरित्रचित्रण में ही उसे समाप्त नहीं होना चाहिए, अपितु इसमें सम्पूर्ण जाति के कार्य-कलाप का वर्णन होना चाहिए। 'लुकन' के अनुसार इसमें देवताओं तथा दैवी शक्ति का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए।

ऊपर पूर्वीय तथा पश्चिमीय दोनों दृष्टियों से महाकाव्य के लक्षण दिये गये हैं। अब देखना है कि इन दृष्टियों से 'पृथ्वीराजरासो' कहाँ तक महाकाव्य है ?

इसमें संदेह नहीं कि लक्षण-ग्रंथों के अनुसार रासो को महाकाव्य ही कहना उपयुक्त होगा। यह ६९ 'समयों' में विभक्त है। इसमें कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। इसके नायक पृथ्वीराज क्षत्रिय कुल-भूषण वीर-पुरुष हैं। अन्य वर्णन-विस्तार भी जो महाकाव्य के लिए अनिवार्य है, पृथ्वीराजरासो में मिल जाते हैं, किन्तु जहाँ तक महाकाव्य में जातीय-चित्तवृत्ति तथा कार्य कलाप की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, रासो को एक विशालकाय वीरकाव्य का ग्रंथ कहना ही उचित है। स्थान-स्थान पर इसमें

कथानक में शिथिलता है। कथानक की घटनाओं में एक-रूपता का भी अभाव है।

रासो के रूपान्तर

इस समय तक की प्राप्त प्रतियों पर विचार करने से रासो के चार रूपान्तर सिद्ध होते हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।※

(१) बृहत् रूपान्तर

इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर-राज्य के पुस्तकालय में हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, वह उसी रूपान्तर का है। इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७५० के बाद की हैं। नागरी-प्रचारिणी-सभा वाली जो प्रति सं० १६४२ की बतलाई जाती है उसकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। श्री नरोत्तमदास जी स्वामी का अनुमान है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व की तो किसी भी अवस्था में वह प्रति नहीं हो सकती। प्रक्षिप्त अंशों की भरमार से इस संदेह को और भी पुष्टि मिलती है। इसमें कुल ३६ समयौ तथा १६३०६ छंद हैं। इस रूपांतर की कुछ प्रतियों में अध्यायों को 'समयौ' और कुछ में 'प्रस्ताव' कहा गया है। कुछ में 'समयौ' और 'प्रस्ताव' दोनों नाम साथ पाये जाते हैं। इसका ६६वाँ 'महोबा समयौ'

※ इस सम्बन्ध में 'राजस्थान भारती' भाग १. अंक १ में प्रकाशित श्री नरोत्तमदास स्वामी का 'पृथ्वीराजरासो' शीर्षक लेख देखें।

वस्तुतः बहुत बाद में 'आल्हखण्ड' से लेकर जोड़ा हुआ प्रतीत होता है।

(२) मध्यरूपांतर

अब तक इसकी चार प्रतियों का पता लगा है। उनमें से एक ओरियंटल-कालेज लाहौर के पुस्तकालय में, एक अबोहर के साहित्य-सदन में, एक बीकानेर के बड़े उपाश्रय के जैन-ज्ञान-भंडार में और एक श्रीयुत अगरचंद नाहटा के पास है। पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने लाहौर वाली प्रति को असली रासो माना है और टिप्पणी के साथ उसका एक संस्करण भी प्रकाशित कराया है। इस प्रति को प्रामाणिक मानने का एकमात्र कारण यही बतलाया गया है कि उक्त प्रति के छन्दों का प्रमाण 'सत्त सहस' या सात हज़ार है और गणना करने पर उसकी श्लोक-संख्या आर्या-छंद के हिसाब से सात हज़ार के लगभग ही ठहरती है।

अगरचन्द नाहटा के पास जो प्रति है, वह भी उल्लेखनीय है। इसका लिपिकाल सं० १७६२ है।

इस रूपान्तर की सभी प्रतियाँ सं० १७०० के पश्चात् की ही हैं, उसके पूर्व की कोई नहीं। ज्ञान-भंडार वाली प्रति सं० १७३९-४० की है। अबोहर वाली सं० १७२३ की; नाहटा वाली प्रति का लिपिकाल सं० १७६२, पहले ही बतला दिया गया है। इस रूपांतर में अध्यायों का नाम प्रायः 'प्रस्ताव' ही मिलता है।

(३) लघुरूपांतर

इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर-राज्य के 'अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय' में तथा एक श्रीयुत अगरचंद नाहटा के पास है। यह रूपांतर बहुत छोटा है। उक्त तीनों प्रतियों के अनुसार समय-संख्या १९ और ग्रंथाग्रंथ* ३५०० है। इन तीनों प्रतियों के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय यह है कि उनमें पहले, सातवें और अंत के समय का नाम किसी भी प्रति में नहीं मिलता। इन्हीं में से दो प्रतियों में वह छंद मिलता है, जिसकी अंतिम दो पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं:—

रघुनाथ चरित हनुमन्तकृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराजसुजसु कविचंद कृत चंद्रसिंह उद्धरिय इमि॥

इनमें से एक प्रति सत्रहवीं शताब्दी की है। नाहटा वाली प्रति सं० १७२८ की है। शेष दो में संवत् का उल्लेख नहीं है, किंतु वे भी अनुमान से सत्रहवीं शताब्दी की ही प्रतीत होती हैं। अनूप-संस्कृत-पुस्तकालय की तीनों प्रतियाँ परस्पर मिलती जुलती हैं और एक दूसरे की प्रतिलिपि जान पड़ती हैं। किंतु नाहटाजी वाली प्रति में कहीं-कहीं भिन्नता है—पाठ में भी और रूप में भी। इस रूपांतर में अध्यायों का नाम 'खण्ड' दिया गया है।

इन रूपांतरों में मुख्यतया परिमाण का ही अंतर है। वृहत्

---

* अनुष्टुप् श्लोकों की संख्या के आधार पर श्लोकसंख्या या ग्रंथाग्रंथ का परिमाण निकाला जाता है।

रूपांतर के अधिकांश खण्ड, मध्यम रूपांतर में नहीं हैं; इसी प्रकार मध्यम के बहुत से खण्ड लघु में नहीं हैं। इतिहासविरुद्ध बातें तीनों में न्यूनाधिक मात्रा में वर्तमान हैं। हाँ, छोटे रूपांतरों में उनकी संख्या न्यून अवश्य है।

(४) लघुतम रूपांतर

अभी तक इन तीन रूपांतरों का ही वृत्तांत ज्ञात था, किंतु राजस्थानी-साहित्य के परिश्रमी अन्वेषक श्री अगरचन्द नाहटा ने एक और रूपांतर भी खोज निकाला है, जो इन सब से छोटा है। परिमाण में वह लघु-रूपांतर के आधे से भी कम है। लिपिकार ने उसकी श्लोक-संख्या १३०० के अनुमान लिखी है। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं है। भाषा अपेक्षाकृत प्राचीन जान पड़ती है। इसका लिपिकाल सं० १६६७ है।

इधर नई खोज के अनुसार रासो की सब से प्राचीन प्रति चंद के वंशज नानूराम के पास बतलाई जाती है। उसका परिचय प्रो० रमाकांत त्रिपाठी ने चाँद के मारवाड़ी अंक के पृ० १४६ में 'महाकवि चंद के वंशधर' शीर्षक लेख में निम्नलिखित शब्दों में दिया है। "नानूराम के पास रासो की दो प्रतियाँ भी हैं। मैंने दोनों को देखा है। एक प्रतिलिपि तो कागज-स्याही तथा अक्षरों को देखते हुए काफ़ी पुरानी ज्ञात होती है। इसे वे चंद के पुत्र जल्ल कृत बतलाते हैं।........ प्रतिलिपि, जैसा कि नीचे दिये हुए लेख से ज्ञात होता है, सं० १४५५ में की गई थी:—

'संवत् १४५५ वरसे शरद ऋतौ आश्विनमासे शुक्लपक्षे उदयात् घटी १६ चतुरथी दिवसे लिखितं। श्री परतगच्छधिराजे, पंडित श्री रूप जी लिखितं। चेलः श्री सोभाजी श। कपासन मध्ये लिपिकृतं।'

किंतु, जब तक यह प्रति प्रकाश में न आय और विद्वान् उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में एकमत न हो जायँ, तबतक उसे संवत् १४५५ में लिपिबद्ध होना कैसे माना जा सकता है? श्रीयुत हरप्रसाद शास्त्री को नानूराम जी ने जो 'महोवा-समय' लिखवाया था, यदि वह सं० १४५५ वाली प्रति का हो तो निस्संदेह वह जाली है, कारण कि उसकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन ज्ञात होती है। उदाहरण के लिए उसकी एक पंक्ति श्रीयुत अगरचंद नाहटा ने उद्धृत की है, जो इस प्रकार है:—

एक पहुर में साँवतसारे।
लोक हजार पाँच तहं मारे॥*

इसीसे उसकी प्राचीनता का अनुमान लगाया जा सकता है।

नागरी-प्रचारिणी-सभा के सं० १६४२ वाली प्रति के सम्बन्ध में भी संदेह किया जाता है। इस प्रकार, अब तक प्राप्त प्रतियों को, जब तक कोई विद्वान् प्रामाणिक न सिद्ध कर दे, श्रीयुत अगरचंद नाहटा वाली प्रति ही प्राचीनतम मानी जायगी।

---

* नाहटा: 'राजस्थानीपत्रिका' 'पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ' पृ० १२।

मूल रासो का परिमाण

उक्त चारों रूपांतरों के तुलनात्मक अध्ययन से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रासो सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री कितनी संदिग्ध है तथा अभी तक उसका सच्चा परिमाण अंधकार के गर्त में पड़ा हुआ है।

प्रस्तुत प्रतियों में भी यह कहना कि अमुक प्रति लघुतम होने से प्रामाणिक है, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। संभव है, संकलनकर्ता ने जानबूझकर कुछ अंश छोड़ दिया हो और मुख्य-मुख्य अंशों को एकत्र करके किसी के पठनार्थ एक संग्रह तैयार कर लिया हो। ऐसे संस्करण में स्वाभाविक रूप से ऐतिहासिक अशुद्धियों की संख्या भी कम रहेगी। जितनी ही अधिक घटनाओं का समावेश किया जायगा उतनी ही अशुद्धियों का बढ़ना स्वाभाविक ही है। अतः अशुद्धियों का अभाव देखकर भी उसे प्रामाणिक सिद्ध करने के लोभ में पड़ना भ्रम है। वास्तव में जिस आधार पर इन प्रतियों का प्रासाद खड़ा किया गया है, उसकी नींव तक पहुँचने के पूर्व ही रासो का मूल रूप विकृत हो चुका था। ठोस प्रमाण के अभाव में आलोचक गण किस प्रकार पंगु की भाँति इतस्ततः लुढ़क-पुढ़क रहे हैं यह नीचे उद्धृत मतों से ज्ञात हो जायगा।

श्रीयुत गौरीशंकर हीराचंद ओझा पृथ्वीराजरासो के छोटा होने की कल्पना ही निर्मूल सिद्ध करते हैं। उनके इस कथन का आधार वि० सं० १८०० के आसपास रचे हुए 'वृत्तविलास'

नामक ग्रन्थ का वह अंश है जिसे चंदवरदाई के वंशधर कवि जदुनाथ ने करोली के यादवराजा गोपालसिंह के राज्य-समय में वनाया था। उसमें उसने अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि चंद ने १०५००० श्लोक (अनुष्टुप्) के परिमाण का पृथ्वीराज के चरित्र का रासो वनाया।※

नाहटा जी ओझाजी के इस तर्क को भ्रामक मानते हैं; क्योंकि उन्हें बहुत सी प्रतियाँ ऐसी मिली हैं जिनमें ग्रंथाग्रंथ ३५०० श्लोक दिया हुआ है, और कुछ अन्य प्रतियों में केवल दश हजार श्लोक का ही प्रमाण मिलता है। आपके अनुसार ओझा जी का कथन, यहीं तक ग्रहण किया जा सकता है कि सं० १८०० के लगभग रासो का परिमाण एक लाख पांच हजार श्लोक तक का हो चुका था।" †

पंडित मथुराप्रसाद जी दीक्षित लाहोर-कालेज वाली प्रति को ही 'असली रासो' मानते हैं; क्योंकि रासो में उसका प्रमाण 'सत्तसहस' वतलाया गया है और उस प्रति की श्लोक-संख्या आर्याछंद के हिसाव से सात हजार के लगभग पड़ जाती है। पर ग्रंथाग्रंथ सदैव अनुष्टुप् छंदों के आधार पर लिया

※ एक लाख रापौ कियौ सहसपंच परिमान।
पृथ्वीराज नृपकौ सुजस जाहर सकल जिहान॥
(कोपोत्सव-स्मारक-संग्रह पृ० ६४)

† राजस्थानी, : पृथ्वीराजरासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ पृ० १२।

जाता है जिसमें ३२ अक्षर होते हैं। 'मत्तह' शब्द का अर्थ श्री दीक्षित जी ने आर्याछंद लगाया है। इसका आधार अनुमान है, कोष नहीं। अतएव यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

नानूराम जी भी रासो का परिमाण तीन-चार हज़ार श्लोक बतलाते हैं; किन्तु उनके पास जो प्राचीनतम प्रति है, वह अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। अतएव उसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

आज से कुछ वर्ष पूर्व, श्री मुनि जिनविजय जी को जैन-प्रबन्धों में चंद कवि के चार पद्य मिले, जो अपभ्रंश में थे। खोज करने से उनमें से तीन परिवर्त्तित रूप में 'रासो' में मिल गये। इससे मुनि जी ने यह अनुमान किया कि 'रासो' का मूल रूप अपभ्रंश में ही था। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने इस मत का समर्थन किया। इधर बीकानेर के राजकीय-पुस्तकालय में रासो का एक और छोटा रूपांतर प्राप्त हुआ है। यह पंजाब वाले रूपांतर के आधे से भी कम है। डा० दशरथ शर्मा ने उसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में विचार किया है। भाषा के सम्बन्ध में श्री शर्मा जी का भी मत है कि वह अपभ्रंश ही थी।

इधर उदयपुर के श्री मोहनसिंह राव कई वर्षों से पृथ्वीराजरासो के गम्भीर अध्ययन में प्रवृत्त हैं। आप रासो के प्राचीन अंश को पृथक् करने में अथक परिश्रम कर रहे हैं। अभी आप का कार्य प्रकाश में नहीं आया, जिससे रासो के परिमाण पर पूर्ण प्रकाश पड़ सके।

यदि मूल रासो अपभ्रंश में था, तो उसका आकार निश्चित

रूप से छोटा रहा होगा। राजस्थान के चारणों और भाटों की यह विशेषता रही है कि वे अपनी तथा अन्य कवियों की कविताएँ कंठस्थ कर लेते थे। ऐसी कविताओं में भाषा का परिवर्त्तन होना सर्वथा स्वाभाविक है। बहुत संभव है, रासो की भी यही दशा हुई हो, और आरम्भ में चंद द्वारा रचित कुछ छंद रहे हों जो कालान्तर में प्रक्षिप्त अंशों की अधिकता के कारण बृहत् रूप धारण कर बैठे हों। जो भी हो, आज रासो के प्रक्षिप्त अंश को पृथक् करके उसके मूलरूप का पता चलाना अतीव दुष्कर कार्य है।

रासो का उद्धार

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज' तथा 'चंद-नंद उद्धरिय तिमि' को देखकर अब तक यही कहा जाता था कि रासो को 'चंद-नंद' 'जल्हन', 'जल्हण' अथवा 'झल्ल' ने पूरा किया था; किन्तु अगरचंद नाहटा का कथन है कि उनके द्वारा प्राप्त प्रतियों में पहला पद्य तो है ही नहीं, दूसरे में भी 'चंद-नंद' के स्थान पर 'चन्द्रसिंह' पाठ मिलता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि रासो के उद्धारकर्त्ताओं में चंद्रसिंह भी एक था।

यह चन्द्रसिंह कौन था, इसका पता विद्वानों को बहुत दिन तक नहीं था किन्तु इधर संयोगवश "मुहणोत नैणसीरी ख्यात" में उसके सम्बन्ध में कुछ पंक्तियाँ मिली हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि चाँदसिंह अथवा चंद्रसिंह महाराजा मानसिंह के

छोटे भाई और अकबर के सेनापति सूरसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चंद्रसिंह मानसिंह का भतीजा था।

रासो के लघुरूपांतर का उद्धार इसी कछवाहावंशीय चन्द्रसिंह ने किया था जैसा कि उक्त रूपांतर के अंतिम पद्य में दिया गया है। वह पद्य निम्नलिखित है:—

प्रथम वेद उद्धरिय बंभ मच्छह तनु किन्नौ।
द्वितिय वीर वाराह धरनि उद्धरि जसु लिन्नौ॥
कौमारिक भट्टेस धम्म उद्धरि रस सक्खिय।
कूरम सूर नरेस हिन्द हद उद्धरि रक्खिय॥
रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भूपभोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत चंदसिंह उद्धरिय तिमि॥

लघुतम-रूपांतर की प्रति बीकानेर-नरेश महाराजा कल्याणमल्ल के पुत्र और प्रसिद्ध महाराजा रामसिंह के लघुभ्राता, राजा भाण के पुत्र, भगवानदास के लिए लिखी गई थी। राजा भगवानदास गुजरात में रामसिंह के पास रहते थे, जो वहाँ के तत्कालीन सूबेदार थे। यही कारण है कि उक्त प्रति गुजरात से प्राप्त हुई है।

मध्यम रूपांतर के उद्धारक का पता नहीं चलता। बृहत् रूपांतर के उद्धारक महाराणा अमरसिंह कहे जाते हैं। रासो के उद्धारक अमरसिंह प्रथम थे या द्वितीय इस सम्बन्ध में भी विवाद है। श्री श्यामसुन्दरदास जी प्रथम को ही उद्धारकर्ता मानते हैं, जिसके लिए उन्होंने दो कारण उपस्थित किये हैं—

(१) अमरसिंह द्वितीय के दादा महाराणा राजसिंह के सं० १७३२ के शिलालेख में खुदे राजप्रशस्ति-काव्य में रासो का उल्लेख हुआ है।

(२) सं० १६४२ की लिखी प्रति काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा के संग्रहालय में है।

किंतु ये दोनों ही तर्क निर्बल हैं। राजप्रशस्ति के उल्लेख से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि अमरसिंह प्रथम ने ही इसका उद्धार कराया था और न यही सिद्ध होता है कि बृहत् रूपांतर भी तब तक संग्रहीत हो चुका था। उससे केवल इतना ही परिणाम निकलता है कि तब तक रासो का अस्तित्व ज्ञात हो चुका था और उसके किसी एक रूपांतर का संग्रह भी हो चुका था; यह आवश्यक नहीं कि वह बृहत् रूपांतर ही हो।

दूसरे तर्क के सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इसकी सं० १६४२ की तिथि ही संदिग्ध है। फिर १६४२ तक अमरसिंह चित्रकोट के राणा भी नहीं हुए थे, वे तो सं० १६५३ में राणा हुए।

अतः यह स्पष्ट है कि बृहत् रूपांतर का उद्धार, अमरसिंह द्वितीय ने ही कराया था, जिसका राज्यकाल १७५५ वि० से १८०८ वि० तक है। यह बात सं० १७६० की प्रति की पुष्पिका से भी सिद्ध हो जाती है, जो इस प्रकार है:—

संवत् १७६० वर्षे शाके १६२५ प्रवर्त्तमाने उत्तरायणगते श्री सूर्ये शिशिर ऋतौ सन्मांगल्यपद माघमासे कृष्ण पक्षे ६ तिथौ सोमवासरे श्री उदयपुर मध्ये हिंदूपति पातिसाहि महाराजाधिराज महाराणा श्री अमरसिंह जी विजय राज्ये...........

ऊपर के तथ्यों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि रासो का उद्धार सम्राट् अकबर के समय से ही प्रारम्भ हुआ। क्योंकि इसके पूर्व का कोई रूपांतर प्राप्त नहीं। अकबर बड़ा विद्याप्रेमी था। इसके समय में कई इतिहासग्रंथ लिखे गये। इसी समय राजपूतों का भी प्राचीन इतिहास एकत्र किया जाने लगा था। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी सिलसिले में चन्द के छंद भी यत्र-तत्र से एकत्र किये गये होंगे।

कबीर : उनका रहस्यवाद

हरिहरनिवास द्विवेदी

सांसारिक सुखों की असारता एवं दुःखों की प्रबलता से घबरा कर प्राणी किसी ऐसे संबल को ढूँढने लगता है, जो उसे इन सुख-दुखों से परे करके किसी अनन्त और अलौकिक आनन्द-सागर में मग्न कर दे। संसार की कटुता से घबरा कर ही जीव को परमात्मा का ध्यान आता है। वह अपने आपको किसी अज्ञात शक्ति के इंगित पर नाचता हुआ अनुभव करता है। वह अनुभव करता है कि वह अज्ञात शक्ति उसे ही नहीं सारे ब्रह्माण्ड को परिचालित कर रही है और वही सबका मूल है। महात्मागण अपने जीवन के सारे स्रोत उसी शक्ति की ओर प्रवाहित करके उससे एकीकरण प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। सब को यथासाध्य तथा यथाशक्ति सफलता मिलती है। कोई उसका दर्शन मात्र कर पाता है और किसी को धुँधला-सा आभास मात्र दिखाई देता है। उसका प्रकाश इतना दिव्य, अलौकिक तथा अनिर्वचनीय है कि उसके दर्शन से वे अवाक् हो जाते हैं। वर्णन करने की चेष्टा करने पर वे वाणी को अपर्याप्त और असमर्थ पाते हैं। अन्य साधन के अभाव में वे भाषा-साधन का ही अवलम्बन ग्रहण करके रहस्यवादी कवि के रूप में उपस्थित होते हैं। स्वभावतः उनके वर्णन में एक धुँधलापन-सा आ जाता

है। कभी कभी तो केवल संकेत मात्र ही होता है। इसी वर्णन करने की असमर्थता को कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है—

अकथ कहानी प्रेम की किछु कही न जाइ।
गूँगे केरी सरकरा खाइ और मुसकाय॥

'गूंगे के गुड़' की तरह कवि स्वयं तो आनन्दानुभव करता है, पर उसका वर्णन नहीं कर सकता। केवल इतना कह सकता है—

कहई कबीर पुकारि के अद्भुत कहिये ताहि।

इस 'अद्भुत' का गद्य द्वारा वर्णन करना तो नितान्त असम्भव है। गद्य की शुष्क वैज्ञानिक एवं सरल प्रणाली इसके उपयुक्त नहीं। पद्य की सम्पूर्ण व्यञ्जना-शक्ति द्वारा उसका आभास-मात्र दिया जा सकता है। यही कारण है कि संसार के प्रत्येक देश के महात्माओं ने अपनी रहस्यपूर्ण वाणी को प्रस्फुटित करने का माध्यम पद्य ही चुना है।

महात्मा कबीरदास के रहस्यवाद पर विचार करते समय यह जानना आवश्यक है कि इस नैसर्गिक महाकवि की रचना पर कौन-कौन सी विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा। ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी रहस्यमयी वाणी पर भगवान् शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं मुसलमान सन्तों के सूफ़ी मत का विशेष प्रभाव पड़ा है। देश में प्रचलित ये दोनों विचारधाराएँ निर्गुणोपासक रहस्यवादी सन्तों के उपयुक्त भी थीं, और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न होने वाले तथा नीमा और नीरू के पोष्य-पुत्र द्वारा इन दोनों मतों का समन्वय सम्भव

भी था। इन सिद्धान्तों पर ही कबीर ने अपने रहस्यवाद की नींव प्रतिष्ठित की है। अतएव कबीर के रहस्यवाद के मूलाधार, इन दोनों सिद्धान्तों का विश्लेषण कर लेना उचित है।

अद्वैतवाद रहस्यवाद की आत्मा है। इसके अनुसार आत्मा और परमात्मा के बीच माया ने पर्दा डाल रखा है। उपासना अथवा ज्ञानोपार्जन द्वारा इस माया से छुटकारा पाकर आत्मा और परमात्मा का एक ही तत्त्व होना कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है—

जैसे जलहिं तरंग तरंगिनि ऐसे हम दिखरावहिंगे।

वस्तुतः जल और जल की तरंग एक तत्त्व है, परन्तु माया के प्रसाद से वे भिन्न ज्ञात होते हैं। इसी कारण आत्मा और परमात्मा में बिछोह डालने वाली इस माया की कबीरदास ने खूब ख़बर ली है। वे उसका तत्त्व भली प्रकार समझते हैं—

माया महा ठगिनी हम जानी।

वे समझते हैं कि यह पिशाचिनी माया ही उनके और हरि के बीच में अन्तर डाले हुए है—

मैं जानूँ हरि से मिलूँ, मो मन मोटी आस।
हरि बिच डारै अन्तरा माया बड़ी पिसाच॥

किन्तु, ज्ञान द्वारा इस माया का आवरण छिन्न हो सकता है। इसका वर्णन कबीर ने इस प्रकार किया है—

आँधी आई ज्ञान की, ढही भरम की भीति।
माया टाटी उड़ गई, लगी नाम से प्रीति॥

इस ज्ञानार्जन तथा उपासना द्वारा माया के नष्ट हो जाने पर आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाना कबीर ने इस प्रकार प्रकट किया है—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कह्यो गियानि॥

साथ ही शुद्ध अद्वैतवाद और रहस्यवाद में अन्तर जान लेना भी उचित है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'चिंतन-क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना-क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।' इन दोनों में केवल भाव प्रकट करने की प्रणाली का ही भेद है। अद्वैतवादी शुष्क ज्ञानी अपने विचार प्रकट करते समय तर्क-प्रधान प्रणाली का उपयोग करते हैं, परन्तु रहस्यवादी भावुकता-प्रधान प्रणाली का अनुसरण करते हैं।

कबीर के रहस्यवाद का दूसरा आधार सूफ़ी मत है। इस मत के अनुसार भी 'बन्दे' और 'खुदा' का एकीकरण हो सकता है किंतु अद्वैतवाद के विरुद्ध इसमें माया को कोई स्थान नहीं 'महबूब' के घर का मार्ग सामने है। किसी 'मुरशिद' के इङ्गित पर चलकर उस मार्ग की समस्त कठिनाइयों के लिए कटिबद्ध होकर एवं 'शरीयत' (कर्मकांड), 'तरीक़त' (उपासना-कांड) तथ 'हक़ीक़त' (ज्ञानकांड) की साधना समाप्त कर 'मुरीद' 'मारिफ़त (सिद्धावस्था) प्राप्त करता है, जिससे आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। तब आत्मा को परमात्मा का अनुभव होता है तथा 'अनलहक़' (सोऽहम्) सार्थक होता है। आत्मा और परमात्मा शराब और पानी की तरह मिल जाते हैं।

अतः सूफियों में 'मुरशिद' की बड़ी प्रधानता है। 'मुरशिद' (अध्यात्म-गुरु) ही 'मुरीद' (शिष्य) के हृदय में परमात्मा का विरह उत्पन्न करता है तथा उसे प्रेमपथ पर अग्रसर करता है। जायसी ने लिखा है—

गुरू बिरह चिनगी जो भेला।
जो सुलगाई लेई सो चेला॥

गुरु के विना सूफियों का प्रेमपथ दुसाध्य है। कवीर को भी गुरु के बिना सब अन्धकारमय दिखाई देता है—

चौंसठ दीवा जोई के चौदह चन्दा माहिं।
तेहि घर किसका चाँदना जेहि घर सतगुरु नाहिं॥

द्वितीया से लेकर पूर्णिमा तक के सारे चन्द्र एक साथ ही उदित हों और चौसठ दिये जलाये जायँ, फिर भी गुरु के विना उस प्रणय-पथ पर अन्धकार ही रहेगा—मार्गच्युत हो जाने की शङ्का तथा सम्भावना वनी ही रहेगी।

किंतु सूफियों की प्रधान विशेषता तो उनका प्रेम-राज्य है। वे सदा अपने प्रियतम के गहरे इश्क़ में दीवाने रहते हैं। इसी प्रेम के लावण्य का वर्णन करते हुए प्रसिद्ध सूफ़ी कवि जायसी लिखते हैं—

तीन लोक चौदह खंड, सबै परे मोहि सूझि।
प्रेम छाड़ि नहि लोन, जो देखा मन बूझि॥

कवीर के रहस्यवाद पर इस प्रेम-राज्य का पूर्ण प्रभाव है। अपने प्रियतम की लाली में वह सारे संसार को रँगा देखते हैं

और उसी में आत्म-विस्मृति कर देते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

कबीर वास्तव में प्रेमोपासक रहस्यवादी (Love-mystic) थे। यदि किसी को कबीर का कोमल हृदय देखना हो तो उसे इनके रूढ़ियों एवं कुरीतियों के विरुद्ध व्यंग्यों और कटूक्तियों में नहीं देखना चाहिए, वरन् इनके प्रेम-निरूपण, विरह-निवेदन आदि में खोजना चाहिए। वहीं उनके बाल-सुलभ सरलता-सम्भूत एवं भक्ति-विह्वल हृदय के दर्शन होते हैं। कुरीतियों के विवेचन के समय तो कबीर युद्धभूमि में ललकारते हुए एक वीर सेनापति के समान दिखाई देंगे। पर 'साहब' के सम्मुख वे भोले बालक के समान भक्ति-विह्वल सरल हृदय लेकर आते हैं—

जो तन माहैं मन धरैं, मन धरि निर्मल होय।
साहब सो सन्मुख रहै, तो फिर बालक होय॥

इस प्रेम-राज्य में सन्तगण प्रेम की मदिरा में छके हुए उसके कभी कम न होने वाले नित्य-व्यापी खुमार में मस्त विचरण करते रहते हैं। उन्हें तन-मन की सुध नहीं रहती। उन पर पूर्ण आत्म-विस्मृति का शासन रहता है—

हरि-रस पीया जानिये, कबहुँ न जाय खुमार।
मैमन्ता घूमत रहै नाहीं तन की सार॥

इस राम-रस को पीकर कबीरदास मस्त हो जाते हैं। कैसी अपूर्व है वह मस्ती ! कबीर विह्वल हो जाते हैं, कातने-बुनने का स्मरण नहीं रहता। ताना, बाना, कूँची सभी मस्ती से नाचते हुए से दिखाई देते हैं—

को बीनैं प्रेम लागौ री, माई को बीनैं।
राम रसांयण माते री, माई को बीनैं ॥टेक॥
पाई पाई तूं पुतिहाई।
पाई की तुरियां बेचि खाई री, माई को बीनैं ॥
ऐसैं पाई पर विथुराई।
त्यूं रस आन बनायौं री, माई को बीनैं ॥
नाचै ताना नाचै बाना।
नाचै कूंच पुराना री, माई को बीनैं ॥
कर गहि बैठि कबीरा नाचै।
चूहै काट्या ताना री, माई को बीनैं ॥

पर इस मदिरा का मूल्य बहुत अधिक है, यह बड़े त्याग के पश्चात् प्राप्त होती है। इसका प्याला आत्मोत्सर्ग की चरम सीमा पर पहुँचाने पर ही होठों से लग पाता है—

कबीरा भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आई।
सिर सौंपे सोई पिवै, नाहि तो पिया न जाई ॥

सूफ़ी लोग सदा एक अनन्त-विरह की वेदना से व्यथित रहते हैं। जब तक आत्मा का परमात्मा से अनन्त संयोग न हो जाय, प्रिय से प्रेमी का साक्षात्कार न हो जाय, तब तक चैन

कैसा ? इसी विरह की अग्नि से जायसी ने कौवे और कोयलें काली कर दीं। पेड़ जला दिये और समुद्र सुखा दिये। इन शब्दों को सुन किस सहृदय का हृदय द्रवीभूत न हो जायगा।

हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब तांत।
रोम रोम ते धुनि उठै कहौं बिथा केहि भांति॥

जायसी जिस प्रकार 'प्रीतम' को पुकारते हुए कहते हैं 'अबहुँ निठुर आउ एहि वारा' उसी प्रकार कबीर भी मार्मिक शब्दों में अपना विरह निवेदन कर अपने प्रियतम का आह्वान करते हैं :—

प्रीत लगी तुव नाव की पल बिसरे नाहीं।
नजर करो अब मेहर की मोहिं मिलो गुसाईं॥
विरह सतावै मोहि को जिउ तड़पै मेरा।
तुम देखन की चाव है प्रभु मिलो सवेरा॥

इसी दुःख में कातर होकर वे लिखते हैं:—

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै और रोवै॥

'राम सनेही' के वियोग में व्याकुल कबीरदास लिखते हैं—

कब देखूँ मेरे राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देही ॥टेक॥
हू तेरा पन्थ निहारूँ स्वामी।
कबरे मिलहुगे अंतरजामी॥

जैसे जल बिन मीन तलप,
ऐसै हरि बिन मेरा जियरा कलपै ॥
निस दिन हरि बिन नींद न आवै।
दरस पियासी राम क्यूं सचु पावै ॥
कहै कबीर अब विलम्ब न कीजै।
अपनौं जानि मोहिं दरसन दीजै ॥

कबीर की अक्खड़ भाषा भी इस प्रेम-राज्य में आकर मधुर हो जाती है। नैसर्गिक कवि की स्वयंभू प्रतिभा का यह मुख्य लक्षण है कि वह यथावसर बिना प्रयास ही उपयुक्त रूप धारण कर लेती है। जायसी की माधुरी से टक्कर लेती हुई भाषा में कबीर लिखते हैं:—

यह तन जारौं मसि करौं लिखौं राम को नाऊँ।
लेखनि करौं करक की, लिखि राम पठाऊँ ॥

इस पर सहसा नागमती की वियोग-वाणी स्मरण हो आती है:—

यह तन जारौं छारकै, कहौं कि पवन! उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परैं कत धरैं जहाँ पाँव ॥

राम की वियोगिनी कबीर की आत्मा उन दिनों की अधीरता से बाट देखती है जब वह प्रियतम का आलिंगन करेगी :—

वै दिन कब आवेंगे माई।
जा कारण हम देह धरी है, मिलवौं अंग लगाई ॥

पर इन सन्त-कवियों का यह प्रेम नितान्त निस्वार्थ प्रेम

हैं। धर्म, अर्थ, काम अथवा मोक्ष पाने की न तो वे अपने प्रियतम से इच्छा ही करते हैं और न प्रार्थना। वे तो केवल साक्षात् चाहते हैं। दादू ने एक स्थान पर लिखा है:—

दरशन दे दरशन दे, तेरी मुक्ति न चाहूँ रे।

कबीर भी कहते हैं:—

जब तक भक्ति सकाम है तब लग निष्फल सेव;
कह कबीर वह क्यों मिले निःकामी निज देव॥

वे तो केवल उससे साक्षात् के इच्छुक हैं। जायसी ने भी अपनी भोली भाषा में लिखा है:—

ना हौं सरग के चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेति कछु काजू।
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेहि मोहि आनि प्रेम-पथ लावा॥

इन महात्माओं को प्रिय-दर्शन ही अभीष्ट है। उसके संयोग में ही इनके जीवन का परम आनन्द विद्यमान है और उसके वियोग की ज्वाला से इनका हृदय सतत दग्ध होता रहता है। कबीर कितने मर्मस्पर्शी शब्दों में लिखते हैं :—

तरपे बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहीं निदिंया, तरप तरप के भोर किया॥

इस प्रेम की पीर से व्यथित भक्त की औषधि करने वैद्य आया। पर वह मूर्ख तो नाड़ी-परीक्षा करने लगा। उसे क्या पता कि यह रोग तो हृदय का है। कबीर ने लिखा है :—

कबीरा वैद बुलाइया पकरि के देखी बाँह।
वैद न वेदन जानई करक करेजे माहिँ॥

इसी 'करेजे की करक' को मीरा ने भी प्रगट किया है—

बावल वेद बुलाइया रे पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख वैद मरम नहिं जानै करक करेजे माहिँ॥

कबीर की उपर्युक्त दो पंक्तियों में मीरा की पंक्तियों से कम माधुर्य नहीं !

आत्मा और परमात्मा की स्त्री और पुरुष के रूप में कल्पना करने से रहस्यवादी कवियों की रचना में एक विशिष्ट माधुर्य आ गया है। इस भाव में भक्तगण सदा मग्न रहते हैं। भक्त-शिरोमणि मीराबाई को तो संसार में कोई पुरुष ही नहीं दिखाई देता था। उन्हें विश्वात्मा अभिसारिका के रूप में परमात्मा-स्वरूप गोपाल-कृष्ण के प्रति अभिसारोन्मुख दिखाई देती थी।

इस प्रेम-मार्ग की दुरूहता का वर्णन भी कबीर तथा अन्य सन्तों ने पर्याप्त रूप में किया है। सर्वस्व-त्याग, आत्म-विस्मृति तथा आत्म-समर्पण तो इसकी वर्णमाला है। कबीर-दास लिखते हैं—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिँ॥
सीस उतारै भूईं धरै तब आवै इहि माहिँ॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न मोल बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

प्रेम-पन्थ की दुरूहता एवं गम्भीरता का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

समझ सोच पग धरो जतन से बारबार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥'

इस प्रेम-पन्थ के विषय में जायसी ने लिखा है—

जो लगि आप हेरान न कोई।
तो लगि हेरत पाँव न सोई॥

पर कबीर के प्रियतम उनके हृदय में ही स्थित हैं। उन्हें बाहर ढूँढना अन्धापन है—

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय विदेस।
तन में मन में नैन में, वाको कहा सन्देस॥

उनका प्रियतम उन्हें वन-वन नहीं भटकाता, उनके घर ही आकर मिल जाता है। केवल सच्ची लगन चाहिए—

बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए।
भाग बड़े घर बैठे आए॥

कबीर के प्रभु तो, वास्तव में हृदय में ही रहते हैं—

मो को कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।

इसी को जायसी ने इस प्रकार कहा है—

पिउ हिरदे महँ भेंट न होई।
केहि रे मिलाव कहौं केहि रोई॥

अन्त में प्रतीत होता है कि कबीर का अपने प्रियतम से साक्षात्कार हो गया। आत्मा का परमात्मा से मिलन हो गया। साधक ने सिद्धि प्राप्त कर ली। आत्मा स्वयं फ़ना होकर बक़ा के लिए प्रस्तुत हुई 'तथा अनल हक़' सार्थक हुआ। संसार और-का-और हो गया। माया का परदा फट गया।

घट घट में रटना लगि रही,
परघट हुआ अलेख जी।
कहुँ चोर हुआ कहुँ साहु हुआ,
कहुँ ब्राह्मन है कहुँ सेख जी ॥

चोर, साधु, ब्राह्मण और शेख़ सब एक ही पिण्ड के अंश दिखाई देने लगे। प्रकृति के व्यापार भी और-के-और हो गये। माली का फूल तोड़ना भी आध्यात्मिक तत्वों की सूचना देने लगा। फूले फूल कलियों को उपदेश देते प्रतीत होने लगे। बढ़ई को आते देख पेड़ का हिलना भी आत्मा को उपदेश देता मालूम पड़ने लगा—हे पत्ती ! (आत्मा) तुम अपने घर जाओ, हम तो अब कटेंगे ही—

बाढ़ी आवत देखकर तरवर डोलन लाग।
हम काटे की कुछ नहीं पंछेरु घर भाग ॥

यह सब उसी संयोग के परिणामस्वरूप हुआ। उसी ने कबीर के ज्ञान-चक्षु खोल दिये और वे प्रकृति के प्रत्येक कम्पन में उस अनन्त आत्मा का संचार देखने लगे।

उस संयोग में कबीर की आत्मा को ब्रह्मानन्द प्राप्त हुआ और वे मस्त होकर गा उठे—

न पल बिछुड़े पिया हम से, न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या !

इस अनन्त-मिलन के पश्चात्—आत्मा और परमात्मा के संयोग के पश्चात्—कबीर अमर हो गए। उनके हृदय से गर्वो-

क्तियाँ निकलीं। पर, वास्तव में वे गर्वोक्तियाँ नहीं, एक प्राप्तसिद्धि साधक का जयोल्लास है। जीवन की अनन्यतम परीक्षा में सफल छात्र का सन्तोपोल्लास है। वह छोटे मुँह बड़ी बात नहीं, अपनी असीम आराधना से रिझाये हुये सर्व-शक्तिमान् प्रियतम की भुजाओं के बल पर प्रियतमा को उचित गर्व है। वे कहते हैं—

हम न मरैं मरि है संसारा।
हम कूँ मिल्या जियावन हारा॥
अब न मरौं मरनैं मन मानां।
तेई मुए जिनि राम न जाना॥
हरि मरि हैं तो हम हूँ मरि हैं।
हरि न मरैं हम काहे कूँ मरि हैं॥
कहै कबीरा मन मनहि मिलावा।
अमर भये सुख सागर पावा॥

जब राम के साथ प्रियतमा आत्मा 'शराब और पानी' की तरह घुल-मिल कर एक हो गई, तब राम के और कबीर की उस आत्मा के मूल्य में अन्तर हो ही कैसे सकता है? जब एक-दूसरे का भेद ही न रहा तो एक का दूसरे के बिना नाश कैसे हो सकता है। अस्तु।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि शङ्कर भगवान् के अद्वैतवाद से माया और चिंतन, तथा सूफ़ी-मत से प्रेम-तत्व लेकर कबीर ने अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। पर सूफ़ियों के विरुद्ध कबीर ने परमात्मा को पत्नी रूप

में नहीं माना। पति, पिता एवं माता के रूप में माता है।

'हरि मोर पीव मैं राम को बहुरिया।'
'बाप रामराया अबहू सरन निहारी।'
'हरि जननी मैं बालक तोरा।'

सत्य तो यह है कि कबीर की यह परमात्मा और आत्मा की पति-पत्नी की कल्पना भी ठेठ सूफीमत की नहीं है। यह उन्होंने मूल में तो निम्बार्काचार्य की माधुर्य-भक्ति से ली है। कबीर के माधुर्यभाव और निम्बार्काचार्य के माधुर्य भाव में यही अन्तर है कि कबीर के भगवान् निर्गुण हैं और निम्बार्क के सगुण। कबीर ने निम्बार्क स्वामी के भगवान् को सूफीमत के रंग में रँग कर सगुण से निर्गुण कर दिया। अस्तु।

कबीर ने अपने 'पीव' को खोज लिया। वे आत्मा तथा परमात्मा का अनन्त-मिलन कराने में समर्थ हुए। पर जैसे ही उन्होंने नीचे इस मर्त्यलोक की ओर दृष्टि डाली तो उन्होंने माया के विकराल मोहनमन्त्र में वशीभूत इस असहाय संसार को देखा। माया के घने आवरण से सब के ज्ञान-चक्षु मूँदे हुए दिखाई दिये। दयालु महात्मा का हृदय द्रवीभूत हुआ। अतः उन्होंने परमात्मा के उस दिव्य स्वरूप को सांसारिक मनुष्यों को समझाने का प्रयत्न कर उन्हें मिलनपथ पर अग्रसर करने की चेष्टा की। पर वह अवर्णनीय वस्तु सामर्थ्यहीन मानव शब्दों की परिभाषा में कैसे बाँधी जाती? कबीर ने स्वयं कहा है:—

'कहिबे की सोभा नहीं देखे ही परमान।'

अतः उस मनीषी द्वारा भी वह तत्त्व पूर्णतः स्पष्ट न हो सका। उनकी अटपटी वाणी, उलट-वाँसियों, अर्ध-प्रस्फुटित शब्दों और रूपकों द्वारा उसका संकेत मात्र व्यक्त हो सका। इसी प्रयास के परिणामस्वरूप कबीर का रहस्यवाद प्रस्तुत हुआ।

कबीर ने काव्य के रूढ़िगत नियमों के अनुसार किसी सांसारिक वस्तु का वर्णन नहीं किया, वरन अपने नैसर्गिक ज्ञान से मस्तिष्क में प्रथम आने वाले शब्दों द्वारा विश्व के गहनतम तत्व का निरूपण किया है। अतः साधारण व्यक्ति मानव भाषा के अपर्याप्त शब्दों के माध्यम द्वारा इस महात्मा-कवि के हृदय से तादात्म्य स्थापित करने में असमर्थ होते हैं। कबीर ने स्वयं चेतावनी दे दी है :—

ज्यों गूँगे के सेन को गूँगा ही पहचान।
त्यों ज्ञानी के सुक्ख को ज्ञानी होय सो जान॥

कबीर की वाणी के पूर्णतः स्पष्ट न होने का कारण यही है। कवि को समझने के लिए कवि-हृदय चाहिए, उसी प्रकार कबीर का रहस्यवाद समझने के लिए आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है।

यह किसी दम्भी का प्रलाप नहीं वरन एक दया-द्रवित महात्मा के हृदय से लोकोपकार के लिए किये हुए निर्गुण के वर्णन का रहस्यमय निर्झर है। यही कारण है कि पीछे के सारे सन्त-कवियों की रचनाएँ कबीर की उच्छिष्ट उक्तियाँ-मात्र हैं तथा वर्तमान काल के कवि-सम्राट् कवीन्द्र रवीन्द्र भी

उनका आंशिक ऋण-भार वहन करते हैं। हिन्दी की आधुनिक काल की 'रहस्यवादी' कहलाने वाली कविताओं का भी यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो उनमें अधिकांशतः कबीर की अमर वाणी के ही कणों की आभा दिखाई देगी। हिन्दी की—भारतीय भाषाओं की—कविता में रहस्यवाद की कभी एकान्त अनुपस्थिति नहीं रही, और कबीर के पश्चात् के सभी रहस्यवादी कवि कबीर के ऋणी हुए। इसका मुख्य कारण यही है कि भारत रहस्यवादी देश है तथा उस रहस्यवाद के प्रतिनिधि-कवि हैं—महात्मा कबीरदास।

जायसी की पद्मावत

डा. रामरतन भटनागर

'पद्मावत' की कहानी का मूलाधार ऐतिहासिक है, परंतु जायसी ने इतिहास को दृष्टि में रखकर कथावृत्त का विस्तार नहीं किया। उन्होंने मसनवियों के अनुरूप इस विशेष कथा को साधना का आधार-मात्र बनाया है। लोक-कथा को लेकर उसके लौकिक प्रेम-पक्ष पर अलौकिक भावनाओं का आरोप करने की प्रवृत्ति प्रारंभ से ही सूफ़ी मसनवियों में पाई जाती है और जायसी मूल रूप से इसी परंपरा से प्रभावित थे। पद्मावत की ऐतिहासिक घटना उसके उत्तरार्द्ध में वर्णित है। अलाउद्दीन किस प्रकार पद्मावत पर मुग्ध हुआ, कैसे उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और अंत में क्षार उसके हाथ लगी, इस सब कथा का संबंध १३०३ ई० के चित्तौड़ के आक्रमण से है। कुछ ही दिनों बाद पद्मिनी की कथा सारे देश में प्रसिद्ध हो गई। लोक-कथा के रूप में व्यापक रूप से उसका प्रचार हुआ और साहित्य में भी उसे आधार बनाया गया। संस्कृत और हिंदी दोनों में पद्मावती पर काव्य लिखे गये हैं, यह कथा की लोकप्रियता का प्रमाण है।

जायसी के पद्मावत की कहानी खंडों में बँटी हुई है। कई खंड कहानी की दृष्टि से किसी तरह महत्वपूर्ण नहीं हैं। ये हैं

स्तुति-खंड (१), सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड (२), नखशिख-खंड (१०); षट्ऋतु-वर्णन-खंड (२६), स्त्री-भेद-वर्णन-खंड (४७), बादशाह-भोज-खंड (४५)। इस प्रकार ६ खंडों का अध्ययन हम कथावस्तु से अलग भी कर सकते हैं। शेष ५१ खंडों में कथा का विस्तार मिलता है।

कथा इस प्रकार है—

आरंभ में कवि सिंहलद्वीप का वर्णन करता है। गंधर्वसेन सिंहलद्वीप का राजा था। चम्पावती रानी। दोनों के एक संतान हुई। पद्मावती नाम रखा गया। यह अत्यंत सुन्दर थी। पढ़ने में दक्ष इतनी थी कि पाँच वर्ष की आयु में ही बहुत कुछ पढ़ गई। जब वह ग्यारह वर्ष की हुई तो सात खंड के एक महल में अलग रहने लगी। कुछ सखियाँ साथ रहीं। हीरामन नाम का एक तोता था। वह देश-विदेश घूमा था और बड़ा पंडित था। पद्मावती उसे बड़ा प्यार करती थी।

बहुत वयस्क हो जाने पर भी जब वैभव के गर्वीले राजा ने पद्मावती का ब्याह नहीं किया, तो वह चिंतित रहने लगी। एक दिन हीरामन तोते से उसने अपने मन की व्यथा कही। उसने कहा—अब मैं तुम्हारे लिए वर खोज दूँगा। मुझे मुक्त कर दो। जब तक मैं नहीं लौटूँ तब तक धैर्य धरो। कोई दुर्जन इन बातों को सुन रहा था। उसने राजा को सूचना दी, राजा ने तोते को मारने की आज्ञा दी, परंतु बधिकों के आने से पहले ही पद्मावती ने उसे छिपा दिया था। जब राजा के बधिक चले गये, तो हीरामन बाहर आया। उसने जाने का आग्रह किया।

जब देश का स्वामी ही नाराज है, तो प्राण किस प्रकार बचेंगे। विवश होने पर भी पद्मावती ने आज्ञा नहीं दी (जन्म खंड)। किसी पूर्णिमा में पद्मावती सखियों के साथ मानसरोवर में स्नान करने गई। वहाँ सखियों ने खूब जलक्रीड़ा की। फिर सब भूला भूलीं। जलक्रीड़ा के समय एक सखी रत्नहार खो बैठी और विलाप करने लगी। परंतु कुछ देर बाद हार पानी में उतराने लगा और सब सखियाँ प्रसन्न-प्रसन्न घर लौटीं (मानसरोवर खंड)। जब पद्मावती सहेलियों के साथ जल-क्रीड़ा में मग्न थी, हीरामन पिंजड़ा तोड़ कर उड़ गया। वह जंगल में स्वतंत्र पक्षियों के साथ रहने लगा। एक दिन एक बहेलिये ने उसे पकड़ लिया और झाबे में रख कर ले चला (सुआ-खंड)। यह हुई सिंहल की कथा।

अब चित्तौड़ की ओर।

चित्तौड़ में चित्रसेन राजा राज करता था। उसके रत्नसेन नाम का एक पुत्र था। ज्योतिषियों ने बताया था कि वह पद्मिनी से विवाह करेगा, सिंहलद्वीप जायेगा (रत्नसेन जन्म-खंड) राजा चित्रसेन की मृत्यु पर रत्नसेन चित्तौड़ के राजसिंहासन पर बैठा। एक दिन चितौड़ का एक बनिया व्यापार के लिए सिंहल पहुँचा। वहाँ उसने अनेक विचित्र वस्तुएँ खरीदीं। उनमें व्याध के हाथों खरीदा हीरामन भी था। इन्हें वह चित्तौड़ लाया। इन विचित्र र पास उपस्थित हुआ।

स पहुँच

। (वनिजारा-खंड) रत्नसेन की रानी नागमती ने एक
। अपने रूप का गर्व करते हुए हीरामन से पूछा—'संसार में
से सुंदर स्त्री कौन है?' तोते ने उसे सिंहलद्वीप की
कन्या पद्मावती की बात बताई। इसे सुनकर नागमती को
आशंका हुई कि कहीं तोता रत्नसेन को भी यह बात न बता
और उसे प्रिय वियोग का दुःख उठाना पड़े। उसने तोते को
धाय के सुपुर्द किया ताकि उसे मार डाले। परंतु धाय जानती
कि इस तोते से राजा का प्रेम है। उसने तोते को छिपा
ा। रात को जब राजा आया और उसने तोते के संबंध में
तो नागमती ने बताया कि उसने इस अपराध पर उसे
दंड दिया है। राजा विलाप करने लगा। उसके क्रोध को
कर धाय ने सच्ची बात बता दी और तोता रानी को लाकर
या। रानी ने उसे राजा को दे दिया (नागमती-सुआ-
ाद)।

तोते ने राजा को सिंहलदेश की राजकुमारी पद्मावती के
र्य सौन्दर्य की बात सुनाई। राजा ने ज्यों ही पद्मावती का
सुना, उसके मन में पूर्वराग का संचार हो गया। उसने
ा से पद्मावती का नखशिख पूछा (राजा-सुआ-संवाद-खंड)।
ले खंड में पद्मावती के नखशिख का वर्णन है। इस नख-
ा को सुन कर राजा को मूर्च्छा आ गई और वह चेतना-
हो गया। जब वह जागा तो उसकी 'त्राहि-त्राहि' से सारे
वी-परिजन दुःखित हो उठे। किसी की समझ में नहीं
ा था कि क्या किया जाय। राजा रो रहा था और हीरा-

मन भाँति-भाँति से उसे समझा रहा था। हीरामन ने कहा—राजा ! सिंहल का मार्ग कठिन है। वहाँ भोगी नहीं जा सकता, तुम तो भोगी हो, जोगी-सन्यासी ही मार्ग पा सकते हैं। यह सुनते ही राजा में नये उत्साह का संचार हो गया और वह सिंहल-यात्रा के लिए तत्पर हो गया (प्रेमखंड)। राजा राज्य छोड़ कर जोगी हो गया। जोगियों के चिन्ह मेखला, सिंधी, चक्र इत्यादि उसने धारण कर लिये। ज्योतिषियों की अवहेलना करके भी वह यात्रा को चल पड़ा। सारा चित्तौड़ विरह में उमड़ पड़ा। माँ ने अनेक प्रकार से विनती की, परन्तु राजा नहीं माना। नागमती के दुःख का कहना ही क्या ! वह भी सीता की तरह साथ जाना चाहती थी, परन्तु रत्नसेन ने उसे पथ की कठिनाइयाँ बताई और साथ ले चलना स्वीकार नहीं किया (जोगी-खंड)।

राजा के साथ सोलह सौ कुँवर थे। आगे-आगे हीरामन तोता। लगभग एक महीने चलकर वे लोग समुद्र के किनारे पहुँचे। वहाँ के राजा गजपति ने भेंट की और राजा को समझाना चाहा, परन्तु राजा माना नहीं। इस पर राजा गजपति ने बोहितों (जहाजों) का इन्तज़ाम कर दिया (राजा-गजपति-संवाद-खंड)। जब वे जहाज़ चले तो सारा समुद्र पट गया और वे अत्यन्त तीव्रता से सिंहल की ओर बढ़ने लगे (बोहित-खंड)। मार्ग में इन लोगों को सात समुद्र पार करने पड़े। अन्त में वे मानसर के किनारे सिंहल द्वीप मे लगे (सात-समुद्र-खंड)। सिंहलद्वीप पहुँच कर राजा को तोते ने सिंहलगढ़



दिखाया। 'यहाँ पद्मावति रहती है, परन्तु उसके पास जाना संभव नहीं है।' उसने इंगित द्वारा दूर पर स्थित सुमेरु पर्वत को दिखाते हुए कहा—'इस पर्वत पर महादेव का मंडप है। माघ मास की श्री पंचमी को वहाँ पर महादेव की पूजा करने के लिए पद्मावती आयेगी। वहीं तुम उसके दर्शन पा सकोगे।' राजा ने इसे स्वीकार किया और हीरामन पद्मावती के पास चला गया (सिंहलद्वीप-खण्ड)। उधर राजा वियोग में पागल तीस हज़ार चेलों के साथ महादेव के मंडप में रहने लगा और पद्मावती के लिए विरह की साधना उसका जीवन-तप बन गई (मंडप-गमन-खंड)।

राजा के योग का प्रभाव अलक्षित रूप से पद्मावती पर भी हुआ और वह अपनी धाय से अपनी वियोग-कथा की बात कहने लगी। रात उससे काटे नहीं कटती (पद्मावती-वियोग खण्ड)। हीरामन पहुँचा। पद्मावती जैसे जी गई। उसने उसे गले से लगा लिया। हीरामन ने सारी कथा सुनाई। इस कथा को सुनकर रानी के मन में अभिमान का संचार हुआ। परन्तु जब हीरामन ने राजा की कृशता की बात कही, तब रानी के मन में दया उत्पन्न हुई। उसने हीरामन से कहा—'यह जोगी मर गया तो हत्या मुझे लगेगी। अब मैं वसंत पूजा के बहाने से दर्शन दूँगी।' यह सुन कर हीरामन प्रसन्न-प्रसन्न राजा (जोगी) रत्नसेन के पास चला गया। (पद्मावती-सुआ-खण्ड)।

वसंत की श्रीपंचमी को पद्मावती महादेव के मंदिर में आई। पूजा करने के बाद उसने इष्टदेव से मन-चाहे वर की

इच्छा प्रगट की। इस समय एक सखी हँस कर बोली—रानी, पूर्व द्वार पर कुछ जोगी आये हैं। उनमें से एक तो राजकुमार जैसा लगता है। पद्मावती उसे देखने गई। उसे देखते ही राजा बेहोश हो गया। पद्मावती ने उसके शरीर पर चंदन लगाया। क्षण भर राजा जागा, परन्तु फिर ठंडक पाकर गहरी नींद सो गया। तब पद्मावती ने चंदन से उसके हृदय पर यह अंकित कर दिया—'जोगी, तूने भीख लेना नहीं सीखा है। जब घड़ी आई, तब तू सो गया। तू अभागा है।' पद्मावती लौट कर सोई तो स्वप्न में उसने हनुमान् द्वारा लंका लूटने वाला दृश्य देखा। सांकेतिक रूप से उसने प्रियमिलन की बात पूर्व ही जान ली। सखियों ने भी इस स्वप्न का यही अर्थ लगाया कि उसे मनोवांछित वर प्राप्त होने वाला है (वसंत-खंड)।

पद्मावती चली गई तो रत्नसेन जागा। वह घोर विलाप करने लगा। अंत में उसने चिता पर जल जाने का निश्चय किया (रत्नसेन-सती खंड)। रत्नसेन चिता सजा रहा था कि महादेव और पार्वती आ पहुँचे। राजा ने कारण पूछने पर उन्हें सारी कथा बताई। इस पर पार्वती अप्सरा के समान रूप धारण कर बोली—'मुझे इंद्र ने भेजा है। मैं अप्सरा हूँ। पद्मावती मुझ जैसी सुन्दरी तो नहीं होगी। तुम मुझे ग्रहण करो।' रत्नसेन ने कहा—'मेरी आँखों के आगे तो पद्मावती है। मैं तो उसी से प्रेम करता हूँ।' वह भयंकर रूप से रोने लगा। अंत में महादेवजी ने अपना वास्तविक रूप प्रगट किया और उसे गढ़ जीतने का उपदेश दिया और मार्ग भी बताया (पार्वती

महेश-खंड)। यह सिद्धि-गुटका था। इसे पाकर राजा अकेला ही महल में घुस पड़ा। उसने नौकरों से यह कहला दिया कि मैं पद्मावती का भिखारी हूँ। उसे लिये बिना नहीं जाऊँगा। यह संदेश भेज कर राजा के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। उसने हीरामन के हाथ एक पत्र पद्मावती के पास भेजा। पद्मावती का उत्तर आया। राजा प्रसन्नता से भर गया (राजा-गढ़-छेका-खंड)।

मंत्रियों से सलाह लेकर राजा गंधर्वसेन ने रत्नसेन को बंदी बना लिया। इस समाचार को पाकर पद्मिनी बहुत दुखी हुई। हीरामन ने जब उसे आवाज़ दी तब वह होश में आई (गंधर्वसेन-मंत्री-खंड)। बंदी रत्नसेन को सूली की सज़ा मिली। बात यह हुई कि उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उसकी विरह-वेदना से आकर्पित हो महादेव-पार्वती को भी वहाँ आना पड़ा। महादेवजी ने राजा को रत्नसेन का यथार्थ परिचय दिया। हीरामन ने भी साक्षी दी। विवाह का निश्चय हुआ और रत्नसेन का तिलक हो गया। ठीक लग्न पर बरसात सज कर चली। बरात आती देख भावावेश में पद्मावती मूर्च्छित हो गई। सखियों द्वारा होश में आई हुई पद्मावती महल के सातवें खण्ड पर पहुँचाई गई। वहीं सुहागरात का आयोजन था (रत्नसेन-सूली-खण्ड)। इस सातवें खण्ड पर पद्मावती और रत्नसेन की पहली भेंट हुई। पहले तो पद्मावती को बड़ा संकोच हुआ, परन्तु फिर संकोच दूर हो गया और दोनों सुखपूर्वक क्रीड़ा करने लगे

(पद्मावती-रत्नसेन-खण्ड)। दूसरे दिन सोलह हज़ार साथियों का विवाह सिंहल की सुन्दर 'पद्मिनी' स्त्रियों से हो गया। (रत्नसेन-साथी-खण्ड)। छहों ऋतुएँ दम्पति ने बड़े सुख से बिताई (षट्ऋतु-वर्णन-खण्ड)। यह हुई सिंहल की कथा।

अब कवि चित्तौड़ में वियोगिनी नागमती के पास आता है। नागमती के वियोग और उसके संदेश को कवि ने दो खंडों में कहा है। यह दो 'पद्मावत' के तीस-इकतीस खंड साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। नागमती का संदेश लेकर पत्ती सिंहल पहुँचा। सिंहल में पहुँचते ही आग लग गई। रत्नसेन वन में आखेट के लिए आया था। वह एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उसने सुना—ऊपर बैठे पत्ती किसी नवागंतुक से बातें कर रहे हैं। इस पत्ती ने अपना परिचय दिया और नागमती के वियोग की कथा सब को सुनाई। राजा नीचे बैठा हुआ सब सुन रहा था। उसने पत्ती से सारी बात फिर पूछी। पत्ती कहानी सुना कर उड़ कर चला गया, रत्नसेन चिल्लाता रहा, परंतु वह लौटा नहीं। रत्नसेन लौट कर उदास रहने लगा। चित्तौड़ की याद उसे सताने लगी। महाराज रत्नसेन की इस उदासी की बात सिंहलपति गंधर्वसेन को भी मिली (नागमती-संदेश-खंड)। रत्नसेन ने विदा चाही। अंत में शुभ मुहूर्त में वह बहुत धनधान्य के साथ पद्मावती को लेकर चला (रतनसेन-विदाई-खण्ड)।

परंतु इस यात्रा में भी अनेक बाधाएँ आईं। जहाज़ अपना भूल गया। वहाँ एक मछुवे के भेस में कोई राक्षस नाव पर

शिकार कर रहा था। राजा ने उससे राह पूछी। परंतु वह उसे अतल जल में ले गया और वहाँ जहाज़ डूब गया (देश-यात्रा-खंड)। राजा और पद्मावती अलग-अलग हो गये। बहते-बहते पद्मावती समुद्र तट पर लगी। वहाँ समुद्र की पुत्री लक्ष्मी खेल रही थी। लक्ष्मी ने उसे अपने पिता-गृह में ही रखा। परंतु जब रत्नसेन वहाँ आ लगा तो लक्ष्मी ने अपने को पद्मावती बता कर उसे छलना चाहा। परंतु रत्नसेन ने पहचान लिया। तब लक्ष्मी उसे पद्मावती के पास ले गई। प्रेमी-प्रेमी मिले। उन्होंने चित्तौड़गढ़ की ओर प्रस्थान किया। (लक्ष्मी-समुद्र-खंड)।

चित्तौड़ में घर घर उत्सव हुए। नागमती भी बड़ी प्रसन्न। परंतु बाद में वह पद्मावती के प्रति ईर्ष्या से जलने लगी (चित्तौड़-आगमन-खंड)। एक दिन दोनों रानियों में काफ़ी संघर्ष हुआ और रत्नसेन को बीच में पड़कर उन्हें संतुष्ट करना पड़ा (नागमती-पद्मिनी-विवाद-खण्ड) अंत में नागमती के नागसेन और पद्मावती के पद्मसेन नाम के पुत्र जनमे (रत्नसेन-संतति-खंड)।

यहाँ तक पूर्वार्द्ध की कथा चलती है। इसके बाद उत्तरार्द्ध की कथा चलती है जिसका आधार इतिहास है।

चित्तौड़ के कारबार में राघवचेतन नाम का एक बड़ा पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। एक दिन किसी बात पर वाद-विवाद हो गया और राजा रत्नसेन ने उसे देश-निकाले की आज्ञा दी। पद्मावती ने सुना तो उसे अच्छा नहीं लगा। पांडित्य और ज्योतिष के लिए पंडित राघवचेतन की बड़ी प्रतिष्ठा थी और

उसके वाहर जाने से उसकी ओर देखा और मुस्करा कर एक कंगन उतार कर उसकी ओर फेंका। राघवचेतन पद्मावती को देखकर मूर्च्छित हो गया और सखियाँ उसे होश में लाईं (राघवचेतन-देशनिकाला-खंड)। राघवचेतन दिल्ली गया। उसने अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य की चर्चा की। वादशाह अपनी चेतना खो वैठा। जब स्वस्थ हुआ तो उसने राघव-चेतन को एक पत्र देकर चित्तौड़ भेजा। पत्र में पद्मावती को दिल्ली भेजने को कहा था (राघवचेतन-दिल्ली-गमन-खंड, संगी-भेद-वर्णन-खंड, पद्मावती-रूप-चर्चा-खंड)। जब रत्नसेन ने यह पत्र पढ़ा तो उसे अपार क्रोध आया। उसने दूत को लौटा दिया। अलाउद्दीन युद्ध की तैयारी करके चित्तौड़ की ओर वढ़ा (वादशाह-चढ़ाई-खंड)। कई वर्षों तक युद्ध चलता है। तभी दिल्ली पर हमले के समाचार आये और वह संधि करके दिल्ली लौट गया (युद्धखंड)। अलाउद्दीन ने रत्नसेन के पास दूत भेज कर वह पाँच रत्न माँगे जो समुद्र ने उसे दिये थे। चंदेरी का राज्य उसने चित्तौड़ को दिया। इस प्रकार उभय पक्षों में संधि हो गई (मेल-खंड)। दुर्ग में वादशाह की दावत हुई। उसी दिन शतरंज खेलते वक्त दर्पण में वादशाह ने पद्मावती की प्रतिच्छवि देखी और उसकी वासना फिर जाग उठी। वह चेतनाहीन हो गया (वादशाह-भोजखंड, चित्तौड़गढ़-वर्णन-खंड)। जब रत्नसेन वादशाह को पहुँचाने दुर्ग के वाहर गया तो उसके आदमियों ने छल से उसे वंदी वना लिया (रतनसेन-वंधन-खंड)।

पद्मावती और नागमती को फिर विरह-दुःख भोगना पड़ा (विलाप-खंड)। उधर कुम्भलनेर के राजा देवपाल ने पद्मावती को फुसलाने के लिए दूती भेजी। बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर भेजा (देवपाल-दूती-खंड, बादशाह-दूती-खंड)। पद्मावती ने अब इन चालों का सामना करना चाहा। उसने गोरा-बादल नाम के अपने दो सरदारों से अपनी व्यथा कही। उन्होंने रत्नसेन को छुड़ा लाने का वचन दिया (पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद)। बादल का अभी गौना हुआ था। माँ और पत्नी ने रोकना चाहा, परंतु वह रुका नहीं। वह युद्ध के लिए चल दिया (गोरा-बादल-युद्ध-यात्रा-खंड)। बारह सौ पालकियों में हथियारबंद सैनिक चले। पद्मावती वाली पालकी में लोहार बिठाया गया। यह प्रसिद्ध किया गया कि पद्मावती अलाउद्दीन के पास जा रही है। वे दिल्ली पहुँचे। अलाउद्दीन की आज्ञा लेकर चित्तौड़गढ़ की चाभी देने के बहाने पद्मावती का डोला रत्नसेन के शिविर में पहुँचा। रत्नसेन मुक्त हो गया और बादल उसे लेकर चित्तौड़ की ओर भागा। इस युद्ध में गोरा वीरगति को प्राप्त हुआ (गोरा-बादल-युद्ध-खंड)। जब चित्तौड़ में आकर रत्नसेन पद्मावती से मिला तो उसने देवपाल की बात कही। देवपाल और रत्नसेन में युद्ध (द्वन्द्व) हुआ और रत्नसेन मार डाला गया (रत्नसेन-देवपाल-युद्ध-खंड)। रत्नसेन की मृत्यु पर गढ़ की रक्षा बादल के हाथ में दे दी गई। पद्मावती और नागमती राजा के साथ सती हो गईं। उसी समय अलाउद्दीन

ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, परंतु उसके हाथ केवल क्षार ही पड़ी (राजा-रत्नसेन-बैकुण्ठवास-खण्ड और पद्मावती-नागमती-सती-खंड)।

इस प्रकार 'पद्मावत' की कथा समाप्त हुई। 'पद्मावत' (१५४०) की इस कथा-वस्तु के विश्लेषण करने की आवश्यकता है। इससे हमें कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि कथा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँट जा सकता है। उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिक कथा का ही लोक प्रसिद्ध रूप है। टाड के राजस्थान से कई बातों में यह कथ साम्य रखती है। यह स्पष्ट है कि जिस रूप में अलाउद्दीन पद्मावती की कथा पद्मावत में सुरक्षित है उस रूप में वह लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। थोड़े-थोड़े भेदों के साथ वह सारे भारत में फैली थी। नहीं तो उसका यही रूप अवधी कथा काव्य में नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि इसके कई पा स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक हैं। पद्मावती, राजा, अलाउद्दी और गोरा-बादल। राघवचेतन मौलिक पात्र है और शैता के रूप में उसकी कल्पना की गई है। शैतान सालिक को मुआरि के साथ देखना नहीं चाहता। वह उसे हटाने के लिए प्राणप से चेष्टा करता है।

पूर्वार्द्ध की कथा उत्तरार्द्ध की कथा से भिन्न है। उसक विस्तार भी बहुत अधिक है। ग्रंथ का बहुत बड़ा भाग पूर्वा पर समाप्त हो जाता है। संभव है, जायसी पहले पूर्वार्द्ध की कथ को ही लेकर चले हों और उत्तरार्द्ध उनकी बाद की सूझ हो।

परन्तु पूर्वार्द्ध के अनेक भाग ऐसे हैं जिनका विस्तार कथा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए 'पार्वती-महेश-खंड' में महादेव रत्नसेन को समझाते हैं— रोओ मत। यह सिंहलगढ़ वैसा ही है जैसा तुम्हारा देह। दसवें द्वार तक यहाँ भी चढ़ना पड़ेगा। उसे (पद्मावती) को वही देख पाता है जो अपनी दृष्टि को उलट कर लगाता है। वही उसे देख पाता है और वही जाकर उसे प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार के वक्तव्य का उद्देश्य स्पष्ट रूप से उभय पाक्षिक है। वह कथा-वस्तु की दृष्टि से सिंहलगढ़ पर सार्थक होते हैं, परन्तु अध्यात्म की दृष्टि से उनमें कायास्थित ब्रह्म की साधना का ब्यौरा मिलता है। यह हुई पद्मावत की कथा-वस्तु।

(२) ऐतिहासिकता

इस कथावस्तु में ऐतिहासिकता कहाँ तक है इस पर विचार करना उचित होगा। परंतु इसके पहले जरा कथा का विश्लेषण कर लें।

कथा के केन्द्र तीन हैं—नागमती, पद्मावती और अलाउद्दीन। सिंहल, चित्तौड़ और दिल्ली। नागमती चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह की विवाहिता है। पद्मावती पहले रत्नसिंह की प्रेयसी है फिर विवाहिता। अलाउद्दीन भी पद्मावती का प्रेमी है परन्तु उसका प्रेम वासनात्मक है और उसने प्रेम की साधना के मार्ग को न पकड़ तलवार और छल के मार्ग को पकड़ा है। इसीलिए पद्मावती उसके हाथ नहीं आती। उसके हाथ

ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, परंतु उसके हाथ केवल क्षार ही पड़ी (राजा-रत्नसेन-बैकुण्ठवास-खण्ड और पद्मावती-नागमती-सती-खंड)।

इस प्रकार 'पद्मावत' की कथा समाप्त हुई। 'पद्मावत (१५४०) की इस कथा-वस्तु के विश्लेषण करने की आवश्यकत है। इससे हमें कई बातों का पता चलता है। पहली बात तो यह है कि कथा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बाँट जा सकता है। उत्तरार्द्ध में ऐतिहासिक कथा का ही लोक प्रसिद्ध रूप है। टाड के राजस्थान से कई बातों में यह कथ साम्य रखती है। यह स्पष्ट है कि जिस रूप में अलाउद्दीन पद्मावती की कथा पद्मावत में सुरक्षित है उस रूप में व लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। थोड़े-थोड़े भेदों के साथ व सारे भारत में फैली थी। नहीं तो उसका यही रूप अवधी कथ काव्य में नहीं मिलता। दूसरी बात यह है कि इसके कई पा स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक हैं। पद्मावती, राजा, अलाउद्दी और गोरा-बादल। राघवचेतन मौलिक पात्र है और शैता के रूप में उसकी कल्पना की गई है। शैतान सालिक को मुआरि के साथ देखना नहीं चाहता। वह उसे हटाने के लिए प्राणप से चेष्टा करता है।

पूर्वार्द्ध की कथा उत्तरार्द्ध की कथा से भिन्न है। उस विस्तार भी बहुत अधिक है। ग्रंथ का बहुत बड़ा भाग पूर्वा पर समाप्त हो जाता है। संभव है, जायसी पहले पूर्वार्द्ध की क को ही लेकर चले हों और उत्तरार्द्ध उनकी बाद की सूझ हो।

परन्तु पूर्वार्द्ध के अनेक भाग ऐसे हैं जिनका विस्तार कथा की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए 'पार्वती-महेश-खंड' में महादेव रत्नसेन को समझाते हैं—रोओ मत। यह सिंहलगढ़ वैसा ही है जैसा तुम्हारा देह। दसवें द्वार तक यहाँ भी चढ़ना पड़ेगा। उसे (पद्मावती) को वही देख पाता है जो अपनी दृष्टि को उलट कर लगाता है। वही उसे देख पाता है और वही जाकर उसे प्राप्त कर सकता है।' इस प्रकार के वक्तव्य का उद्देश्य स्पष्ट रूप से उभय पाक्षिक है। वह कथा-वस्तु की दृष्टि से सिंहलगढ़ पर सार्थक होते हैं, परन्तु अध्यात्म की दृष्टि से उनमें कायास्थित ब्रह्म की साधना का ब्यौरा मिलता है। यह हुई पद्मावत की कथा-वस्तु।

(२) ऐतिहासिकता

इस कथावस्तु में ऐतिहासिकता कहाँ तक है इस पर विचार करना उचित होगा। परंतु इसके पहले जरा कथा का विश्लेषण कर लें।

कथा के केन्द्र तीन हैं—नागमती, पद्मावती और अलाउद्दीन। सिंहल, चित्तौड़ और दिल्ली। नागमती चित्तौड़ के राजा रत्नसिंह की विवाहिता है। पद्मावती पहले रत्नसिंह की प्रेयसी है फिर विवाहिता। अलाउद्दीन भी पद्मावती का प्रेमी है परन्तु उसका प्रेम वासनात्मक है और उसने प्रेम की साधना के मार्ग को न पकड़ तलवार और छल के मार्ग को पकड़ा है। इसीलिए पद्मावती उसके हाथ नहीं आती। उसके हाथ

द्वार आती है।

सिंहल, चित्तौड़ और दिल्ली तीनों ऐतिहासिक प्रदेश हैं। सिंहलद्वीप को जायसी नगर के रूप में चित्रित करता है। स्पष्ट है कि आधुनिक सिंहल (लंका) से उसका विशेष परिचय नहीं था। सुनी-सुनाई बातों के आधार पर वह सिंहल का चित्रण कर रहा था। चित्तौड़ से रत्नसेन ने सिंहल की जो यात्रा की है, उससे ज्ञान पड़ता है कि जायसी बंबई के आसपास कहीं सिंहलद्वीप होना मानते हैं और जब लौट कर राजा आता है तो वह बंगाल-समुद्र से होकर। वह जगन्नाथ-पुरी पहुँचता है। इससे स्पष्ट है कि कवि सिंहल को भारत के ध्रुवदक्षिण में मानता था। उसे जगन्नाथपुरी से सिंहल तक के जलमार्ग का भी पता था। प्राचीन कथा-कहानियों में यह जल-मार्ग प्रसिद्ध रहा है। चित्तौड़ और दिल्ली आधुनिक चित्तौड़ और दिल्ली ही हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर पता चलता है कि १३०३ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ का घेरा किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया। चित्तौड़ाधि-पति लक्ष्मणसिंह कुछ सैनिकों के साथ चित्तौड़ छोड़ कर दक्षिण चले जाते हैं और पद्मिनी रनिवास के साथ जौहरव्रत धारण कर सती हो जाती है। ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना है। परन्तु भारतीय वाङ्मय में पद्मिनी और अलाउद्दीन को लेकर एक कहानी ही खड़ी कर ली गई है। जायसी के समय वह कहानी अवश्य उसी रूप में प्रसिद्धि पा रही होगी जिस

रूप में उन्होंने उसे ग्रहण किया है। अलाउद्दीन पद्मिनी के रूप की प्रशंसा सुन कर उस पर मोहित हो जाता है और आक्रमण करता है। परन्तु सफल न होकर संधि कर लेता है। अंतःपुर के दर्पण में पद्मिनी की झाँई देखकर वह व्याकुल हो जाता है और जब चित्तौड़पति उसे पहुँचाने बाहर जाता है तो छल से उसे पकड़ लेता है। पद्मिनी भी छल से काम लेती है। वह कहला देती है कि वह डोलों के साथ आ रही है और गोराबादल के साथ बंदीशिविर में पहुँच कर पति को मुक्त करती है। एक वर्ष बाद अलाउद्दीन फिर आक्रमण करता है और इस बार सफल होता है। पद्मिनी सती हो जाती है।

यह तो जायसी की 'उत्तर कथा' है। इसमें भी जायसी ने कई चीजें अपनी ओर से जोड़ दी हैं। राघवचेतन और कुम्भलनेर का राजा देवपाल जायसी की अपनी सूझ है। कुम्भ का समय अलाउद्दीन से बहुत पहले है। अतः अलाउद्दीन के समय कुम्भलनेर का अस्तित्व भी नहीं था। फिर वहाँ के राजा की बात ही कैसे उठती। देवपाल कहानियों में प्रसिद्ध नाम है। इसी से जायसी ने इसे अपना लिया। चित्तौड़पति (रत्नसेन) को अलाउद्दीन के हाथ से न मरवा कर कवि ने मर्यादा की ही रक्षा की है। रत्नसेन को हराने के लिए ही देवपाल की सृष्टि हुई जान पड़ती है।

परन्तु जायसी की 'पूर्वकथा' की ऐतिहासिकता एकदम अनिश्चित है। उसमें जो है वह सब कल्पित है। चित्तौड़ का कोई राजा सिंहलद्वीप तक दौड़ेगा, इसकी कल्पना भी संभव

नहीं। फिर चित्रसेन, गंधर्वसेन और रत्नसेन एवं नागमती सब कल्पित नाम सिद्ध होते हैं। इनका अलाउद्दीन-पद्मावती की कहानी से कोई सम्बन्ध नहीं। पद्मिनी के पति का नाम लक्ष्मण-सिंह मिलता है, रत्नसिंह नहीं। संभव है राणा सांगा (मृ० १५२७) के उत्तराधिकारी महाराणा रत्नसिंह (१४६१-१५३१) के नाम पर ही जायसी को 'रत्नसेन' नाम की प्रेरणा मिली हो। महाराणा रत्नसिंह बूँदी के हाड़ा सूरजमल के साथ आती हुई पारस्परिक अनबन के कारण उन्हीं के हाथों किसी शिकार के समय मार डाले गये और कदाचित यह वृत्त ही नये रूप में 'पद्मावत' के 'रत्नसेन' के साथ जोड़ दिया गया। इस प्रकार इतिहास के सूरजमल कल्पना के देवपाल हो गये। सन् १५३२ ई० में गुजरात के बादशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई की और कुछ समय तक युद्ध होने के उपरांत संधि हो गई। किन्तु सन् १५३४ में ही उसने फिर दूसरा आक्रमण किया। चित्तौड़ पर बादशाह का अधिकार हो गया और रानियों ने जौहर कर लिया।

संभव है जायसी का चित्रसेन महाभारत का गंधर्वराज चित्रसेन हो और गंधर्वसेन बन गया हो। यह निश्चित है कि जायसी के काव्य-काल (१५२०-४०) में चित्तौड़ की प्रसिद्धि विशेष रही होगी। १५२७ में राणा सांगा ने साकरी के युद्ध में राजपूतों का नेतृत्व किया था और उस युद्ध में बाबर को अत्यंत साहस से ही विजय प्राप्त हो सकी थी। बाबर के बाद ही लगभग ५० वर्ष तक चित्तौड़ बराबर मुसलमानों से मोर्चा लेता

रहा। इसीसे उस समय की जनता (विशेषकर हिंदू जनता) के लिए 'चित्तौड़' की कथाओं में विशेष आकर्षण रहा होगा। संभव है, तत्कालीन राजनीति की घटनाओं के आधार पर लोक-कथाओं में अलाउद्दीन-पद्मिनी की कहानी का पुनर्निर्माण हुआ हो और जायसी को यह नई कहानी ही हाथ लगी हो।

परंतु पूर्वकथा का आधार एकदम अनैतिहासिक है।

संभव है, नागमती 'वीसलदेव रासो' की राजमती का पुनः-संस्करण हो, परंतु नागमती का कोई ऐतिहासिक आधार है, इस संबंध में संदेह है। १४५६ ई० के दामो की लक्ष्मणसेन-पद्मावती की कहानी और लालसेन की पद्मिनी-चरित में भी यही पूर्वकथा कुछ हेर-फेर के साथ संग्रहीत है। लालचंद की रचना में नागमती का स्थान प्रभावती ले लेती है। जो हो, पद्मावती की सपत्नी के संबंध में इतिहास मौन है। फिर भी कथाओं में तो सौत चल ही रही है और यदि जायसी ने इसका आधार लेकर एक उत्कृष्ट विरह-काव्य की रचना की तो उन्हें श्रेय मिलना ही चाहिए।

जान पड़ता है, सिंहल और पद्मिनी स्त्रियों का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आता था। योगियों में इनकी प्रसिद्धि थी। कथा है, कि मत्स्येन्द्रनाथ सिंहल में पद्मिनी सुन्दरियों के मोह में फँस गये थे और गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। 'कामरूप' और 'सिंहल' जोगियों के लिए सिद्धि

में बाधक माने गये हैं। नाथ-साहित्य में 'कामरूप' और 'सिंहल' की सुन्दरियों की बार-बार चर्चा है। जायसी ने काया-गढ़ के रूप में सिंहल का जो वर्णन किया है और गढ़-छेका-खण्ड में सिंहल-विजय की कठिनाइयों का जैसा चित्रण किया है, उससे यह स्पष्ट है कि वह नाथों (जोगियों) की कथा-परंपरा से प्रभावित है। 'पद्मावत' में जोग की शब्दावली और साधना का परिचय इस बात के प्रमाण हैं। नाम-साम्य के कारण इतिहास की 'पद्मिनी' का सामान्य 'पद्मिनी' नारी से सम्बन्ध जोड़ दिया गया और चित्तौड़ की रानी को सिंहल में जन्म लेना पड़ा। पद्मिनी-प्राप्ति की साधना ईश्वर-प्राप्ति की साधना का प्रतीक बन गई। जायसी ने अपनी पूर्वकथा में विस्तृत रूप से आध्यात्मिक रूपक का आरोप किया है। और वह रूपक प्रत्येक प्रकार उसकी आध्यात्मिक साधना को स्पष्ट कर सकता है। आगे हम उस पर विचार करेंगे। तोते द्वारा पूर्वराग के जन्म की बात भी अनेक लोक-कथाओं में मिलती है। अतः पूर्वकथा में लोक-कथा और जोगी-कथा का अद्भुत संगम है और अज्ञातरूप से अध्यात्म-तत्त्व का आरोप अन्तःसलिला सरस्वती के रूप में उपस्थित है। इस प्रकार जायसी की कथा के तीन अंग हैं:—

✓ १—नागमती की विरह-कथा (लौकिक विरह-कथा जिसमें षट्ऋतु की योजना है। बीसलदेवरासो में इस प्रकार की कथा का एक साहित्यिक रूप संग्रहीत है।)

२—रत्नसेन-पद्मिनी की कथा※ (लोक-कथा, जोगियों में प्रसिद्ध कथा और रूपक की त्रिवेणी)

३—उत्तर-कथा [ऐतिहासिक कथा] । जायसी ने इस उत्तर-कथा पर ही स्पष्ट रूप से आध्यात्मिक रूपक का आरोप करना चाहा है।

(३) कथा-संगठन

परंतु ये तीन कथाएँ एकदम स्वतंत्र नहीं हैं। जायसी ने विशेष चातुर्य से तीनों कथाओं का गठबंधन कर दिया है। कम से कम पूर्वकथा और उत्तरकथा के रूप में कथा के दो विभाजन तो संभव हैं ही। पहली कथा का फलागम पद्मावती की प्राप्ति है। रत्नसेन-संतति-खंड (३७) में पूर्वकथा समाप्त हो जाती है और नई कथा का आरंभ होता है। राघवचेतन दूसरी कथा का नायक है। उसे खलनायक भी कह सकते हैं। उसी ने अलाउद्दीन को बहकाया और चित्तौड़ की ओर उसका मुँह फेरा। राघवचेतन को ही एक प्रकार इस कथा का सूत्रधार कहा जा सकता है। राजा रत्नसेन ने उसका अपमान किया। उससे

※डॉ कमल कुलश्रेष्ठ ने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' में जायसी से पहले के एक संस्कृत काव्य का उल्लेख किया है जो पाठक राजवल्लभ की रचना है और जिसका समय १४१० ई० है अर्थात् घटना से सौ वर्ष बाद। इसमें नायक का नाम रत्नसेन ही है। यदि इस रचना का विशेष रूप से अध्ययन हो जाय तो पद्मावत की बहुत कुछ उलझनें हल हो सकती हैं।

चिढ़कर राघवचेतन दिल्ली चला गया और उसने रत्नसेन को नई उलझनों में डाल दिया। परोक्ष रूप से चित्तौड़ की दुखांत परिणति का कारण वही हुआ। इस कथा में ऐतिहासिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि आध्यात्मिक रूपक का आरोप भली भाँति नहीं हो पाया है।

कथा-संगठन की दृष्टि से दोनों कथाएँ पुष्ट हैं। यह जायसी के लिए श्रेय की ही बात होगी। हिंदी-कथा-साहित्य की अधिकांश कथाएँ विशृङ्खल हैं, परंतु जायसी के पद्मावत के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की दोनों कथाएँ पंचसंधियों पर पूरी उतरती हैं। इस सौष्ठव के कारण कथा में और भी चमत्कार आ जाता है। 'मसनवी'-काव्यों में कथाएँ बराबर पुष्ट मिलती हैं। इसका कारण यह है कि लेखक प्रसिद्ध लोक-कथाओं को लेता है और लोक-कथाएँ युग-युग से चलती आने के कारण प्रत्येक अंग में पुष्ट होती हैं। कल्पना का रंग चढ़ा कर कवि उन्हें और भी संगठित कर लेता है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि जायसी की कथावस्तु अत्यंत रोचक है और वह भली भाँति संगठित हो सकी है।

परंतु यह तो कहना ही पड़ेगा कि जायसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी कि वह लोक और इतिहास में चलती हुई रत्नसेन, पद्मावती और अलाउद्दीन संबंधी दोनों कथाओं को एक केन्द्र पर ले आते। यदि वह ऐसा कर लेते तो कला की दृष्टि से यह रचना और भी पुष्ट होती! जिस प्रकार कथा उपलब्ध है उस प्रकार पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध को बाँधने वाले किसी सूत्र का पता

नहीं चलता। पूर्वार्द्ध में न राघवचेतन का पता है, न अलाउद्दीन। का इस प्रकार न राघवचेतन ही इस सारी कथा को बाँध सका, न अलाउद्दीन। केवल पद्मावती और रत्नसेन ही दोनों कथाओं को जोड़ते हैं। यदि कवि पद्मावती को सिंहल की राजकन्या नहीं बनाता, यदि वह मारवाड़ या गुजरात की ही कोई कुमारी बनाई जाती, तो राघवचेतन अथवा अलाउद्दीन का संबंध उससे जोड़ा जा सकता था। यदि राघवचेतन या अलाउद्दीन रत्नसेन के प्रतिद्वन्द्वी नायक के रूप में खड़े हो सकते तो इस समस्या का हल निश्चित था।

हो सकता है स्वयं जायसी ने इस सारी कथा को एक बार नहीं लिखा हो और इस प्रकार उसमें विशृंखलता का समावेश हो गया है। कम-से-कम 'नागमती का विरह' (षट्ऋतु) और 'नखशिख' तो स्वतन्त्र रचनाएँ ही हैं जो 'पद्मावत' का अंग बना दी गई हैं। संभव है, 'नागमती के विरह-वर्णन' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर जायसी को यह प्रेरणा हुई हो कि किसी लोक-प्रसिद्ध जनकथा से इसका संबंध जोड़ा जाय और एक महत्वपूर्ण सामयिक घटना से उन्हें यह जनकथा प्राप्त हो गई। यह घटना १५२६ ई० का गुजरात के बादशाह बहादुरशाह का चित्तौड़ पर आक्रमण था। एक वर्ष पहले बहादुरशाह असफल हुआ था परन्तु इस वर्ष वह सफल हुआ। कदाचित् बहादुरशाह की यही सफलता-असफलता की कथाएँ 'पद्मिनी' (पद्मावत) की कहानी से जुड़ गई और जायसी ने इसी जन-प्रसिद्ध रूप में उन्हें ग्रहण किया। जायसी को रतन

सेन (रत्नसिंह) नाम भी इस घटना से प्राप्त हो गया। अतः पद्मावत का काल स्पष्टतः १५२६–४० है । यही जायसी का साधना-काल है। जान पड़ता है, उन्होंने यह सारा समय कालपी में बिताया जो इन दिनों एक प्रसिद्ध सूफ़ी (चिश्ती) परम्परा का केन्द्र था। जायस के प्रति कवि को जो मोह है उससे यह निश्चित है कि उसका अधिकांश जीवन यहीं बीता।

(४) रूपक का आरोप

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, पद्मावत की कथा फ़ारसी मसनवी-शैली पर लिखी गई है। सारी कथा एक अत्यन्त प्रवहमान गति से बढ़ रही है। कदाचित् जायसी ने उसके खंड नहीं किये हैं। बाद में विषयानुरूप लोगों ने उसके खंड कर लिये। यदि जायसी सर्गों के ढंग पर खंडों की कल्पना करता तो ये संख्या में कम होते और इनके आकार में इतनी विभिन्नता नहीं होती। किसी भी मसनवी में सर्ग के ढंग पर कथावस्तु का विभाजन नहीं किया गया है। हाँ, स्थान-स्थान पर गद्य में कथा का विषय बताया जाता रहता है।

पद्मावत की कथा लौकिक है। नायक के महान् प्रयत्न ने उसमें प्राण डाल दिये हैं। पद्मावती और रत्नसेन के बीच में प्रारम्भ में कोई भी खलनायक नहीं है। जो बाधाएँ हैं, वे केवल बाह्य हैं, प्राकृतिक हैं। उन्हें पार कर लेने पर पद्मावती की प्राप्ति हो जाती है परन्तु उन्हें पार करना हँसी-खेल नहीं है। लक्ष्य-प्राप्ति की कठिनाइयाँ ही सूफ़ी-साधनापथ की गहनता की प्रतीक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारी कथा ही

रूपक है । इस्लामी साहित्य में लैला-मजनूँ, शीरीं-फ़रहाद और यूसुफ़-ज़लैखा जैसी लौकिक प्रेम की कथाएँ सूफ़ियों ने पारलौकिक प्रेम की व्यंजना के रूप में ग्रहण कर ली थीं। इन पर अनेक मसनवियाँ लिखी गईं। मसनवी-भर में कवि कथा की पारलौकिकता का ज़रा भी इशारा नहीं देता। वह केवल कथा को अत्यन्त भावुकता से आगे बढ़ाता है और प्रेम और विरह के सम्बन्ध में मार्मिक उक्तियाँ कहता जाता है। स्थल-स्थल पर कवि-कथन के रूप में जो आ जाता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूफ़ी-साधक के लिए वही मनन और साधना की वस्तु है।

इस प्रकार हम देखते हैं, पद्मावत का पूर्वार्द्ध उत्कृष्ट रूपक है। जायसी ने मन की साधना को ही कथा का रूप दिया है। कथा उन्हें गढ़नी नहीं पड़ी, गढ़ी-गढ़ाई कथा उन्हें मिल गई, यह दूसरी बात है। सांकेतिक कोप में कवि कहता है—

तब चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पद्मिनि चीन्हा ॥
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा ॥

इसमें चित्तौड़ तन है, रत्नसेन मन है। चित्तौड़रूपी तन में स्थित मन साधारण रूप से लौकिक विषय-वासना में लिपटा रहता है। रत्नसेन केवल तन में स्थित है, उसकी वृत्तियाँ कायिक हैं। वह दुनिया-धन्धे (नागमती) में लिप्त है। परन्तु ईश्वर की अनुकंपा से एक दिन उसे नागमती से भी बड़े सौंदर्य

का पता चल जाता है। इस दुनिया-धंधे से भी वड़ा 'ध
मनुष्य के लिए है। वह जान लेता है। उस लक्ष्य के ि
उसके हृदय में आकुलता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु उस ल
तक उसका पथ-प्रदर्शक कौन बने। पथ-प्रदर्शक बनता है ही
मन तोता (सुआ)। वह सूफ़ी-साधना के 'गुरू' का प्रतीक
अनेक वाधाओं को पार करके गुरू के दिखाये पथ पर बढ़
हुआ साधक रत्नसेन लक्ष्य की प्राप्ति करता है। परन्तु ल
कहीं वाहर नहीं है। इसी हृदय (सिंहल) के भीतर अवस्थि
सहज सौंदर्य-वुद्धि (Intution) ही साधक का लक्ष्य
पहले इस सहज वुद्धि (पद्मिनी) को ही पाना होता है। सू
परिभाषा में इस संकेत-कोष को इस प्रकार भी रख सकते हैं

चित्तौड़ = तन =
(राजा) रत्नसेन = मन = } सालिक, आविद की 'अक़्ल'
(सुआ) हीरामन = गुरू = मुरशिद
सिंहलद्वीप = हृदय = क़ल्व (रूह)
पद्मिनी = सहजवुद्धि = मुआरिफ़ (प्रज्ञा)
नागमती = दुनिया-धंधा = नफ़्स

सालिक (साधक) के मार्ग में दो वाधाएँ हैं अक़ल (मन
और नफ़्स (नागमती)। वह नफ़्स (नागमती) द्वारा अप
तन चित्तौड़ में ही लीन रहता है। परन्तु यदि उसे मुरशिद
कामिल (सुआ) मिल जाता है, तो वह 'नफ़्स'
छुटकारा पा जाता है और क़ल्व या 'रूह' में स्थि
'मुआरिफ़' (सहज-वुद्धि, प्रज्ञा) की प्राप्ति की ओर वढ़ता है

नागमती (नफ़्स) भी सुन्दर और मोहक है और पद्मिनी (मुआरिफ़) भी सुन्दर है, अतः जायसी ने दोनों को सुन्दर चित्रित किया है। नफ़्स मुरशिद में विश्वास नहीं करती, इसी से नागमती सुए को मार डालना चाहती है। परन्तु एक बार 'मुआरिफ़' का सौन्दर्य साधक (सालिक) ने जान लिया तो वह मुड़ नहीं सकता। वह लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करेगा। कथा में यदि नागमती की अवतारणा नहीं होती, तो नफ़्स की मोहकता और उसके बंधन का चित्रण भी नहीं हो पाता।

परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि नागमती के विरह और पद्मिनी की प्राप्ति पर नागमती और पद्मिनी के रत्नसेन के साथ प्रसन्न रहने और कमलसेन और नागसेन पुत्रों के जन्म का क्या रहस्य है ? नागमती का विरह केवल भारतीय साहित्य-परम्परा के कारण पद्मावत में स्थान पा रहा है। रूपक तो है ही, परंतु जब विशिष्ट पात्र खड़े किये गये हैं, तो कथा की आवश्यकता को भी पूरा करना होगा। 'षट्-ऋतु-वर्णन' के बिना कोई काव्य कैसे पूर्ण कहा जा सकता था ? इसी से 'नागमती के विरह' की योजना हुई। उसके पीछे किसी प्रकार का संकेत ढूँढ़ना बुद्धि-विलास ही होगा। हाँ, सूफ़ी-साधना में विरह का बड़ा महत्व है। इससे नागमती के विरह-वर्णन में स्वतंत्र रूप से जो 'प्रेम की पीर' प्रकाशित हो गई है, वह तो सूफ़ी परम्परा की चीज है ही। पद्मिनी की प्राप्ति से नागमती के साथ प्रसन्नता-पूर्वक रहने का अर्थ केवल यही है कि मुआरिफ़ का उदय होने पर सालिक नफ़्सपरस्ती से हट जाता है। उसकी इंद्रियाँ ईश्वरोन्मुख हो

जाती हैं। नफ़्स (नागमती) से भागने की उसे आवश्यकता नहीं होती। कमलसेन और नागसेन का जन्म केवल कथा को सुखद बनाने के लिए है। पद्मावती का पुत्र पद्मसेन या कमलसेन और नागमती का नागसेन। इससे अधिक कोई रहस्य इसमें नहीं है। हाँ, नागमती नाम चुनते समय जायसी को कदाचित् नागपाश (बन्धन) का ख्याल हो आया हो। यह रही पूर्वार्द्ध की बात।

उत्तरार्द्ध में नागमती (नफ़्स) का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वह पद्मावती (मुआरिफ़) की पोषक या सहगामिनी मात्र है। 'सुआ' और 'सिंहल' के प्रतीक भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ नये प्रतीक आये हैं। राघवचेतन = सैतान (शैतान) अलाउद्दीन सुलतान = माया। इन दो प्रतीकों को देकर उत्तर कथा की ओर से जायसी निश्चिंत हो गये हैं और अर्थ खोलने के लिए पंडित-बुद्धि को 'चैलेञ्ज' देते हैं। साधक की नफ़्स-शुद्धि और प्रज्ञा (मुआरिफ़) से उसका मेल शैतान को पसंद नहीं। ख़ुदा और बंदे के बीच में शैतान है। 'मुआरिफ़' ख़ुदा की ओर ले जाती है, अतः शैतान को यह विष लगता है। अतः वह बंदे और ख़ुदा (रत्नसेन और पद्मावती) में विछोह डालना चाहता है। वह माया की शरण जाता है। सूफ़ी परिभाषा में राघवचेतन शैतान है और अलाउद्दीन को जायसी ने 'माया' कहा है। सूफ़ी दार्शनिक चिंतन में 'माया' का स्थान ही नहीं है। हमारे यहाँ 'माया' जीव-ब्रह्म के बीच का व्यवधान है। 'माया' का अर्थ सांसारिकता भी है जो जीव-

ब्रह्म के मिलन में बाधक होती है—जो साधक को ऐन्द्रियता की ओर ले जाती है। इस्लाम में 'माया' का स्थान शैतान ने ले लिया है। अलाउद्दीन को 'माया' कहकर जायसी ने भारतीय दार्शनिक चिंतन के एक शब्द को अपना लिया, परन्तु विद्वानों के लिए समस्या खड़ी कर दी। अलाउद्दीन—माया ?

सालिक जब सहज-बुद्धि, प्रज्ञा या मुआरिफ़ को प्राप्त हो गया तो फिर शैतान और माया का क्या काम ? परंतु जायसी तो कथा की रक्षा करते हुए आगे बढ़ना चाहते थे। यदि वे ३७वें खंड (पुत्रजन्म खण्ड) पर ही कहानी समाप्त कर देते, तो प्रतीकों की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परंतु अलाउद्दीन-पद्मिनी की अत्यंत प्रसिद्ध कथा को वे एकदम आँख की ओट नहीं कर सकते थे। जब वह उत्तरार्द्ध की सारी कथा लिख गये, तो उन्हें विवश होकर उसका सूफ़ी—अर्थ करना पड़ा। इसी से नये प्रतीक आये। शैतान और (या) माया साधक के प्रज्ञा के आनंद में बाधा डालने के लिए सब कुछ करेगा यही तथ्य है। हो सकता है, वह सफल भी हो जाय (जैसा 'पद्मावत' में हुआ है) परन्तु यह किसी निश्चित तथ्य को उपस्थित नहीं करता। साधारण कथा को लेकर उस पर अध्यात्म-पक्ष का आरोप करने में जो कठिनाइयाँ होतीं, वह जायसी को भी हुईं। वास्तव में अध्यात्म (रूपक) की दृष्टि से उत्तरार्द्ध महत्वपूर्ण नहीं है।

सच तो यह है कि 'पद्मावत' की कथा को एक निश्चिव दृष्टिकोण से देखना होगा। हम कह सकते हैं कि—

१—कथा दो निश्चित भागों में बँटी है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। ३७वें खण्ड तक पूर्वार्द्ध जाता है।

२—पूर्वार्द्ध की कथा का आश्रय है लोक-कथा, उत्तरार्द्ध का इतिहास या ऐतिहासिक जन-प्रसिद्धि।

३—पूर्वार्द्ध की कथा समासोक्ति है। उस पर सूफ़ी आध्यात्मिक साधना का आरोप सरलता से हो सकता है।

४—उत्तरार्द्ध की कथा में जायसी ने दो रूपक प्रतिष्ठित किये हैं, परंतु वह कदाचित् सारी कथा को आध्यात्मिक अर्थ देने के लिए। कथा के ऐतिहासिक और कथात्मक विकास में ये रूपक वह जाते हैं। इनसे किसी भी प्रकार की साधना-पद्धति नहीं बनती। यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन (सालिक) की शुद्ध प्रेम के विरुद्ध अलाउद्दीन के वासनात्मक प्रेम की असफलता इस कथा द्वारा व्यंजित हुई है। जहाँ मुरशिद द्वारा नेतृत्व पाने वाला सालिक सफल है, वहाँ शैतान द्वारा वरगलाया हुआ इन्सान असफल है। मुआरिफ़ मुरशिद की ही कृपा का फल है, शैतान तो धूल-भर दे सकता है। इस प्रकार इस खल-कथा से परोक्ष में साधक की शुद्ध प्रेम-साधना की उज्ज्वलता पर ही प्रकाश पड़ता है। परन्तु यह कथा इसलिए नहीं लिखी गई है। केवल कथा के लिए कथा लिखकर जायसी को उसका सूफ़ी अर्थ लगाना पड़ा। वे लगा नहीं सके। शैतान और माया में वे उलझ कर रह गये। इतनी बड़ी अतिरिक्त कथा में रूपक का आरोप साधारण मेधा का काम नहीं था। इस प्रकार उत्तरार्द्ध की कथा न समासोक्ति है, न अन्योक्ति, कथा-मात्र है। उसकी ऐतिहासिकता भी अनिश्चित है।

परंतु पद्मावत में केवल सूफ़ी-साधना ही सन्निहित नहीं है। एक अन्य साधना का भी पूरा-पूरा विवरण इसमें मिलता है। यह है योग (हठयोग) की साधना। गढ़-छेका-खण्ड में इस धारा का सांगोपाङ्ग विवेचन है। हठयोग की परिभाषा के अनेक शब्दों को जायसी ने अपना लिया है। काया-नगरी की बात उन्होंने बार-बार कही है—

जैसे अहै पिरथिमी सिगरी। तैसी जानहु काया नगरी

× ×

जस चौदह खंड तैस सापा

× ×

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुस के घट माँही

× ×

नव पौरी बाँकी नव खंडा। नवौं जो चढ़ै जाइ बरह्मण्डा

× ×

नव पौरी धर दसवँ दुवारा

× ×

नव पौरी तेहि गढ़ मँझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा
दसव दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बांका
भेटे जाइ सोइ वह घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चांटी
गढ़ तर कुंड सुरँग तेहि माहाँ। तहँ वह पंथ कहौं तेहि पाहाँ
चोर बैठि जस सेंधि सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी

जस मरजिओ समुद्र धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढि लेह जो सरग दुआरी, चढ़ै सो सिंघलदीप॥

साधना से पूर्णतः परिचित था और पद्मावत के पूर्वार्द्ध में उस साधना को ही प्रधानता दी गई है। परंतु यह प्रधानता ऊपरी है। जायसी अपने प्रदेश में प्रचलित योगियों की हठयोगी साधना के स्थान पर प्रेम की साधना की प्रतिष्ठा कर रहे हैं, यह स्पष्ट है। पद्मावती की सखियाँ रत्नसेन के जोगीवेष की खिल्ली उड़ाती हैं और उसके संबंध में प्रश्न करती हैं। तब रत्नसेन भी जोगी-साधना की असार्थकता बता कर केवल प्रेमतत्त्व की दुहाई देता है और उसे ही प्रियतम-प्राप्ति का एकमात्र साधन मानता है। स्पष्ट है कि लक्ष्य पर पहुँच कर रत्नसेन का इस तरह कहना कुछ विशेष अर्थ रखता है—

का पूछहु तुम धातु निछोही। जो गुरु कीन अंतर पट ओही॥
सिधि गुटका अब मो संग कहा। भएउ राँग सत हिए न रहा॥
सो न रूप जासौं दुख खोलौं। गएउ भरोस तहां का बोलौं॥
जँह लोना बिरवा कै जाती। कहि कै संदेस आन को पाती॥
कै जो पार हरतार करीजै। गंधक देखि अबहिं जिउ दीजै॥

× × ×

होइ अबरक इंगुर भया फेरि अगिनि मँह दीन्ह।
काया भीतर होइ कनक जो तुम चाहौ कीन्ह॥

बिष जो दीन्ह अमृत देखाई। तेहि रे निछोही को पतियाई॥
मरै सोइ जो होय निगूना। पीर न जानै बिरह बिहूना॥

× × ×

सिद्ध गुटीका जा पहँ नाहीं। कौन धातु पूछहु तेहि पाहीं॥

ऊपर के उद्धरण में स्पष्ट रूप से 'जोग' की साधना की अवहेलना है। योग के वाह्याडंबरों और साधनों को प्रेम से नीचे बताया है। 'भयउ रॉंग मत दिए न रहा' से इस बात का ही इंगित है। जान पड़ता है, जायसी हठयोग और सूफ़ीमत का समन्वय चाहते हैं और योग की अनेक साधनाओं को मानते हुए अंत में 'प्रेम की पीर की साधना' को ही सबसे ऊँचा बताते हैं। रूपक-कोष में भी उन्होंने सूफ़ी रहस्य-साधना का ही इंगित किया है। बहुत-सी बातों में सूफ़ियों और योगियों में साम्य था। सूफ़ियों की भाँति जोगी भी अंतःसाधना पर बल देते थे और काया (पिंड) के भीतर ब्रह्म (ब्रह्मांड) को ढूँढ़ते थे। जहाँ तक काया-गढ़ का भेदन और इंद्रियों का शम-दम द्वारा नियमन है, वहाँ तक जायसी का योगी-मतवाद से कोई विरोध नहीं। परन्तु सारी कथा पर सूफ़ी मतवाद के अनुसार रूपक खड़ा करने से जायसी सूफ़ी ही निकलते हैं, जोगी नहीं। कदाचित् जायसी कबीर को सूफ़ी ही मानते थे, इसी से "एक जुलाहैं तैं मैं हारा" नारद (माया) के मुँह से कहलाते हैं। कबीर के सिद्धांतों में अपने मतवाद की पुष्टि देखकर जायसी ने उन्हें आदर से याद किया है। दोनों में अंतर यही है कि कबीर बेशिरा (ज़िंदीक) सूफ़ी हैं, जायसी 'बाशिरा'।

प्रकृति

सूफ़ी प्रकृति को परमात्मा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। इस दृष्टि से प्रकृति उन्हें बड़ी प्रिय है और वह प्रकृति-प्रेम को परमात्मा तक पहुँचने का साधन समझते हैं। सारे भारतीय

साहित्य में प्रकृति का इतना रोमांचक, इतना अतिशयोक्तिपूर्ण परन्तु ऐश्वर्यशाली वर्णन कहीं नहीं मिलेगा, जितना सूफ़ी काव्य में। अँग्रेजी रहस्यवादी और रोमांटिक कवियों के प्रकृति-काव्य से हम इसकी तुलना कर सकते हैं।

जायसी के प्रकृति के प्रयोग अनेक ढंग के हैं। सघन अमराई का एक वर्णन लीजिए। कवि कहता है—

घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि उत लगि आकासा
तरुवर सबै मलयगिरि लाई। भइ जग छाँह रैनि होइ आई
मलय समीर सोहावनि छाहाँ। जेठ जाड़ लागै तेहि माहाँ
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दिखावै
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै, सुख होई बिसरामू
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा
फरै आँब अति सघन सोहाए। औ जस फरै अधिक सिर नाए
खिरनी पाकि खाँड असि मीठी। जामुन पाकि भँवर अस दीठी
पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू

लवंग सुपारी जायफल सब फर फरे अनूप।
आस पास घन इमिली औ घन तार खजूर॥

भोर होत बोलहिं चुहचुही। बोलहि पांडुक "एक तुही"
सारौं सुआ जो रहचह करहीं। कुरहिं परवा औ करबरहीं
'पीव पीव' कर लाग पपीहा। 'तुही तुही' कर गडुरी जीहा
'कुहू कुहू' करि कोइलि राखा। औ भिंगराज बोल बहु भाषा
'दही दही' कर महरि पुकारा। हारिल बिनवै आपनहारा
कुहुकहिं मोर सुहावन लागा। होइ कुराहर बोलहिं कागा

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराँउ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाँरा ॥

स्पष्ट है कि कवि फल-फूलों और पशु-पक्षियों की सूची दे देना प्रकृति-वर्णन मानता है। न जाने क्यों, जायसी ने स्थान-स्थान पर अपनी ज्ञान-बहुलता दिखाई है। मसनवी-काव्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं है। कवि मंतव्य विषय को लेकर आगे बढ़ता है, सूची उसे नहीं देना। कहाँ से यह परिगणन-शैली जायसी के हाथ लगी, यह कहना कठिन है।

परन्तु यह परिगणन-शैली कहीं-कहीं इतनी दूर चली जाती है कि नीरसता के सिवा पाठक के हाथ और कुछ नहीं लगता। एक 'बारी' (बाग) का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

आस-पास बहु अमृत बारी। फरीं अपूर, होइ रखवारी ॥
नारंग नींबू सुरँग जँभीरा। औ बदाम बहु भेद अँजीरा ॥
गलगल तुरँज सदा फरफरे। नारँग अति राते रस भरे ॥
किसमिस सेब फरें नौ पाता। दारिउँ दाख देखि मन राता ॥
लागि सुहाई हरफारयोटी। उनें रही केरा कै घौंटी ॥
फरे तूत कमरग औ न्योंजी। राय करौंदा बेर चिरौंजी ॥
संगतरा व छुहारा दीठे। और खजहजा खाटे मीठे ॥

इस प्रकार के 'कोष' साहित्य में क्या स्थान पा सकेंगे ? जायसी की काव्य की सब से बड़ी दुर्बलता यही वर्णन है।

परन्तु जायसी ने केवल वस्तु-ज्ञान और अनुभूति पर ही अपने प्राकृत काव्य का महल नहीं खड़ा किया है, उन्होंने

कल्पना से प्रकृति तत्त्वों में परिवर्द्धन भी करना चाहा
खीर (क्षीर) समुद्र, दधि-समुद्र, उदधि-समुद्र (?), सुरा-स
किलकिला-समुद्र जैसे नये-नये कल्पना के समुद्र जायसी
काव्य में ही मिलेंगे। किलकिला-समुद्र का वर्णन देखिए—

भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा।
उठे लहर परवत के नाईं। फिरि आवै जोजन सौं ताईं।
धरती लेह सरगि लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहुँ भा ठाढ़ा।
नीर होय तर ऊपर सोई। माथे रंग समुद्र जस होई।
फिरत समुद्र जोजन सो ताका। जैसे भँवे कोहाँर का चाका।
गै औसान सबन्ह का देखि समुद कै बाढ़ि।
नियर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि॥

इस प्रकार के अनेक चमत्कारपूर्ण, कल्पना-प्रसूत वर्ण
जायसी के प्रकृति-काव्य की विशेषता है। परन्तु प्रकृति-संबन्
ये वर्णन स्वच्छंदवाद (रोमांटिक काव्य) के अन्तर्गत आ
हैं जिनमें कवि अतिशयोक्ति से काम लेकर किसी अज्ञा
ऐश्वर्य-लोक की सृष्टि करता है।

ताल-तलाब बरनि नहिं जाहीं। सूझै वारपार किछु नाहीं॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़ेहिं लेह पानी। चमकहिं कच्छ बीजु कै बानी॥

× × ×

इस प्रकार के वर्णन पद्मावत में अधिक नहीं हैं, परन्तु जो
हैं वे उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं। कुछ वर्णनों में कवि प्रकृति

को सजीव चित्रित करता है। मानसरोवर खंड में जब पद्मावती सरोवर में नहाने जाती है तो सरोवर उसके रूप पर मोहित हो जाता है—

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौं ऐहि मिस लहरेहिं लेइ॥

यहाँ स्पष्ट ही पद्मावती साधारण नायिका नहीं है, वह किसी और बड़ी चीज का प्रतीक है। जायसी ने उसे मुआरिफ़ (प्रज्ञा) के स्थान पर रखा है जिसे ईश्वर का प्रतिविम्ब कह सकते है। लक्षणा से उसे परमात्म-सत्ता भी मान सकते हैं। इसी तरह पद्मावती के वाल विखरने पर संसार में अँधेरा हो जाता है। चकई चकवी विछुड़ जाते हैं। एक चाँद तो आकाश (सरग) में था ही, यह दूसरा चाँद दिन में उग आया, अब मिलना कैसे होगा ? वास्तव में पद्मावती के वाल 'माया' का वह आवरण है जिससे ईश्वर (अल्लाह) अपना सौन्दर्य (जलवा) छिपाता है। इस प्रकार के छोटे-छोटे इंगित सारे काव्य में छिपे हुए हैं और कवि उनमें अध्यात्म-संवन्धी बड़ी-बड़ी बातें कह गया है।

नागमती के विरह-वर्णन के संवन्ध में हमने अलग विचार किया है। इस विरह-वर्णन का आधार पट्ऋतु-वर्णन है जो प्रकृति सम्बन्धी काव्य का एक अंग है। प्राचीन काव्यों में पट्ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन की एक परंपरा चली आती थी। यह परंपरा लोक-काव्य से ग्रहण हुई थी। जायसी इस परंपरा से परिचित हैं और उन्होंने अपने काव्य में पट्ऋतु-

वर्णन और नखशिख-वर्णन की दोनों परम्पराएँ ग्रहण की हैं। इसमें संदेह नहीं—हिन्दी षट्ऋतु-वर्णनों में जायसी का षट्ऋतु-वर्णन अद्वितीय रहेगा। केवल उसी के आधार पर हम जायसी के महाकाव्यत्व को मान लेते हैं।

परंतु उपमानों के रूप में जायसी में प्रकृति-वर्णन बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है। कदाचित् सारे हिन्दी-काव्य में उपमानों के लिए प्रकृति की इतनी खोज किसी कवि ने नहीं की। कुछ उद्धरण कवि के चुने हुए उपमानों की सार्थकता पर प्रकाश डालेंगे—

जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाउँ॥

जिसने पावस में अमराइयों में झुण्ड के झुण्ड पक्षी बैठे हुए, चहकते हुए देखे हैं, वही इस उपमा की सुन्दरता को जान सकता है। तालाबों में काई फटना सब ने देखा होगा, परन्तु हृदय की व्यथा बताने के लिए भला किसने इस उपमा का प्रयोग किया है—

कित करमुहें नैन भए, जीउ हरा जेहि बाट।
सखा नीर-बिछोह जिमि दरकि-दरकि हिय फाट॥

हृदय की व्यथा की इतनी सार्थक उपमा और कौन दे सका है! नागमती अपने दुःख से दुःखी है। इसी से वह कहती है—

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम सुख चमकै बीजुरी, मोहिं दुख बरसै मेह॥

कहीं-कहीं पर प्रकृति के सुन्दर उपमानों के द्वारा कवि आकाश-पाताल को छान डालता है और इतनी बड़ी बात कहता है कि हमें आश्चर्य होता है। रत्नसेन गजपति से अपने प्रेम की तीव्रता की बात कह रहा है—

सरग सीस, धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुंद॥

आकाश शीश है, धड़ धरती है, हृदय में जो समुद्र हिलोरें मार रहा है, वह प्रेम है। नेत्र कौड़ी मात्र हैं। वे बूँद-बूँद भर कर इस प्रेम-समुद्र को कैसे उलीच सकेंगे?

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी के प्रकृति-वर्णन के कई रूप हैं :—

(१) परिगणन शैली (इसमें वस्तु का नाम कथनमात्र रहता है)।

(२) रोमांचक शैली (इसमें वस्तु का अतिशयोक्तिपूर्ण चमत्कारिक वर्णन होता है। साधारण वस्तु को असाधारण और अलौकिक बनाने के लिए इस शैली का प्रयोग हुआ है)

(३) रहस्यवादी शैली (इसमें कवि योग का सूफ़ी-मत के आधार पर कोई प्राकृत रूप खड़ा करता है)।

(४) उपमान शैली (उपमानों के रूप में प्रकृति के अनेक व्यापारों का व्यापक प्रयोग रहता है) इसके कई वर्ग हो सकते हैं :—

(क) जहाँ उपमान केवल काव्योपयोगिता की दृष्टि से आये हैं।

(ख) जहाँ उपमान उपदेश देने के लिए या किसी उपदेश
। पुष्ट करने के लिए आये हैं।
(ग) नखशिख के प्रसंग में।
(घ) मानवी भावनाओं के वर्णन में।
(५) प्रतीक-शैली (इसमें कवि प्रकृति की कुछ विशेष
तुओं को प्रतीक के रूप में ग्रहण करता है। सूरज-चाँद;
ल-भँवरा इत्यादि प्रतीक बराबर पद्मावती और रत्नसेन
लिए प्रयोग में आये हैं। जहाँ कवि अभिधार्थ से हटकर
दम आध्यात्मिक अर्थों को उपस्थित करना चाहता है, वहाँ
: वर्ण्यवस्तु की जगह कोई न कोई प्रतीक रख देता है।

इसमें संदेह नहीं कि जायसी का प्रकृतिकाव्य महत्वपूर्ण
। उनका प्रसिद्ध दोहा है—

कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाइ।
कबहूँ बेलि फिर पलुहै जो पिउ सींचे आइ॥

इस दोहे की प्रसिद्धि इसीलिए है कि इसमें प्रकृति के एक
मार्मिक दृश्य को विरह की अभिव्यंजना के लिए ग्रहण कर
या गया है। मानसरोवर में कमल का खिलना, सरोवर का
। जाना और फलतः कमलबेलि का मुरझा जाना, प्रियतम
आना और उस कमल-बेलि को सींचना ऐसे चित्र हैं जो
त्न से कठिन हृदय में करुणा का संचार कर देंगे। ऐसे
पम चित्र केवल अनुभूत हृदय ही उपस्थित कर सकता था।
में संदेह नहीं कि जायसी का सारा काव्य अनुभूति पर खड़ा
उसमें कवि के विशाल सांसारिक ज्ञान के दर्शन तो होंगे,

परंतु पांडित्य के रूप में नहीं। कवि ने जो देखा है, जो अनुभव किया है, हृदय-मन की वह सारी सामग्री कल्पना और भावुकता के तागे में कवि ने पिरो दी है। संसार के किसी काव्य में इस सहृदयता की उपमा नहीं मिलेगी। एक विधर्मी कवि अन्य धर्म के चरित्रों को लेकर इतनी सहानुभूति, प्राणों की इतनी वेदना भरेगा, इसमें संदेह है। इस संदेह से ऊपर उठकर जायसी अमर हो गए हैं। उनका पद्मावत भाषा, भाव, छंद, उपमा-उपमान सब में एकांततः भारतीय है। यह अवश्य है कि रूपक रूप में सूफ़ी-साधना भी इस कथा पर घटित की गई है, परंतु जायसी ने साधना का जो रूप उपस्थित किया है वह इतना सरल है कि किसी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रखता।

गोस्वामी तुलसीदास

बाबू श्यामसुन्दरदास

हिन्दी-भाषा की सम्पूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखलाने वाले और हिन्दी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठाने वाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे। यद्यपि अपनी अद्भुत ,प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गये हैं, और यद्यपि आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरन्तर बढ़ती ही जाती है, तथापि उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवन-चरित्र लिखने वाले महात्मा रघुवरदास, समकालीन शिष्य, बाबा बेणीमाधवदास, अयोध्या के कुछ रामायणी-भक्त तथा मिरजापुर के पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि सज्जन जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामी जी की जीवन-गाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारम्भिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी उपेक्षा-योग्य नहीं। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामी जी के ग्रंथों की जांच-पड़ताल करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के सम्बन्ध में आये हुए संकेतों

से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परन्तु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रहमात्र होती है। उससे उनके मानसिक और कला-सम्बन्धी क्रम-विकास का पता नहीं चलता।

गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामी जी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास-संवत् १६८० ठहरता है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बांदा जिले में राजापुर गाँव के निवासी थे। सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्योंजा के दुबे और इनकी माता हुलसी थीं जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिसमें उनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना पर पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर उधर घूमते फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामी जी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के आरम्भ में किया है। सम्भवतः उनके ही साथ रहते हुए

इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामी जी के अध्यापक 'शेष सनातन' नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानन्द के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामी जी भी उसी मत के अवलम्बी बने। उनका अध्ययनकाल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर गोस्वामी जी युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामी जी के विवाह के सम्बन्ध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति पांति ना चहत हों" पद्यांश माना जाता है। परन्तु उनके विवाह और विवाहित जीवन के सम्बन्ध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामी जी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसी-दास का प्रेम-विह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी-द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और बेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है:—

खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलिके, अचल करहु अनुराग।

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदास के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के सम्बन्ध में जो विरोधात्मक उद्गार पाये जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामी जी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधात्मक उद्गारों का कारण है। परन्तु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामी जी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निन्दा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के सम्बन्ध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के सम्बन्ध में बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उनका अनुमोदन करती हैं। स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामी जी साधु बन गये और घर छोड़कर देश के अनेक भू-भागों तथा तीर्थों में घूमते रहे। उनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था, उत्तर में मानसरोवर, दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्यभूमि में इनकी रुचि अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे, जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रन्थ-रचना करते थे। मथुरा, वृन्दावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी आपने यात्रा

की थी और यहीं-कहीं इनकी 'कृष्ण-गीतावली' लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामी जी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आये। कवि केशवदास और रहीम खानख़ाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अन्त में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रन्थ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा-कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरन्तर बढ़ती ही गई। और अब तो यह सर्वव्यापिनी हो रही है। 'रामचरितमानस' लिखने के उपरान्त गोस्वामी जी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित्र का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्म-निवेदन की ओर खिंचे। उनकी विनय-पत्रिका इसी समय की रचना है। भक्त को दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की

क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न सम्बन्ध पर जोर देकर गोस्वामी जी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रन्थ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्यदेव राम थे तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामी जी ने लौकिक पद्धति का अनुकरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृङ्खला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामी जी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामी जी ने काशी में गोपाल मन्दिर में की थी। गोस्वामी जी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीर जी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी परन्तु वे उसके उपरान्त अधिक दिन तक जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में अब तक मत-भेद है। अनुश्रुतिप्रसिद्ध इस दोहे के अनुसार:—

संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परन्तु बेणीमाधवदास के गुसाईं-चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी

हुई है। अनुसन्धान करने पर यह तिथि ठीक ही ठहरी, क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा। और गोस्वामी जी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसीदास जी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है। वह सीधा श्रावण के कृष्ण पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन शुक्ला सप्तमी" को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है—उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसंमत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामी जी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परन्तु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है, साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानन्द की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रन्थों की विशेषतः अध्यात्मरामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुसुंडिरामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रन्थों का ऋण भी गोस्वामी जी को

स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रन्थों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है। गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारतवर्ष में घर घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव उसी पर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एक मात्र धर्म-ग्रन्थ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामी जी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने हिन्दू-धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा, प्रजा, ऊँच नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई आदि पारिवारिक सम्बन्ध का कैसा निर्वाह होना चाहिए—आदि जीवन

के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दुओं के सब देवता, सब रीतिनीति, वर्णाश्रम-व्यवस्था तुलसीदास जी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञान-मार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिन्दू-धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस की किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनन्द-मग्न होकर उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आजकल उनका रामचरितमानस सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनन्त कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है। गोस्वामी के रामचरितमानस व विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञाप्रश्न आदि बड़े ग्रन्थ तथा बरवै रामायण, रामललानहछू, कृष्णगीतावली, वैराग्य-संदीपिनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज में किया गया है। परन्तु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रन्थों में सम्मिलित हो गई हैं तथा

कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रन्थ गोस्वामी जी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामी जी की 'रामसतसई' का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामी जी की अन्य कृतियों के समान नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आये हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय होते हैं, गोस्वामी जी जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी वेणीमाधवदास का साक्ष्य एक दम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है—गोस्वामी जी ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हे प्राकृत जनगुणगाना, सिर धुनि गिरा लाग पछताना" का पद्य इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित्र के बाहर भी जाकर उन्होंने मानव-समाज के लिए हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में, उन्होंने सच्चे प्रेम की जो व्याख्या चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है,

अलोकोपयोगी उच्छृङ्खलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुन्दर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दण्डित करने की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामी जी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के चिरन्तन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वांतःसुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से नहीं। कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं से होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करने वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिन्दी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार

कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रन्थ गोस्वामी जी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामी जी की 'रामसतसई' का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि इसकी रचना गोस्वामी जी की अन्य कृतियों के समान नहीं है, क्योंकि इसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आये हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय होते हैं, गोस्वामी जी जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी वेणीमाधवदास का साक्ष्य एक दम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है—गोस्वामी जी ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हें प्राकृत जनगुनगाना, सिर धुनि गिरा लाग पछताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श कूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित्र के बाहर भी उन्होंने मानव-समाज के लिए हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में, उन्होंने सच्चे प्रेम की जो पराकाष्ठा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है,

अलोकोपयोगी उच्छृङ्खलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निन्दा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुन्दर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दण्डित करने की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रक्खा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामी जी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के चिरन्तन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास ने जो कुछ लिखा है स्वांतःसुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से नहीं। कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं से होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का प्रदर्शन करने वाले केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसीदास की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिन्दी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार

तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामी जी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामी जी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी-बनाई मिल गई थी, परन्तु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं। हनुमान की सीता की खोज में लंका जाने की कथा तो वाल्मीकि रामायण में भी है परन्तु सीता जी की शोक-विह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना गोस्वामी जी की उद्भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य अन्य चमत्कारपूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामी जी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखलाने में गोस्वामी जी को स्वतंत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति इनमें है उतनी वाल्मीकि की नहीं। प्रकृति के सत्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिन्दी के कवियों में बहुत कम है, परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रसंग के अनुरूप निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरन्तर

ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि-रामायण के आधार पर जो ग्रन्थ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गये, उनमें और गोस्वामी जी की रचनाओं में महान् अन्तर है। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है वह तो वाल्मीकि-रामायण से अधिक गम्भीर और पूत है।

जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे, अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परन्तु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे। अतः कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थानों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का प्रयोग किया है। इससे उनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनयपत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में व्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह व्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी। क्योंकि सूरदास आदि भक्त-कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने व्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत-पदावली का संमिश्रण किया और उसे उपर्युक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और व्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है,

और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रन्थों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छन्द-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है। परन्तु साथ ही हरिगीतिका आदि लम्बे तथा सोरठा आदि छोटे छन्दों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छन्द-परिवर्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरितमानस के लंकाकांड में जो युद्ध-वर्णन है उसमें चन्द आदि वीर कवियों के छन्द भी लाये गये हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छन्दों में कथा कही गई है, जो भाटों की परम्परा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राजश्री का जो विशद वर्णन है उसके अनुकूल कवित्त छन्द का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रजभाषा के सगुणोपासक सन्त महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत-शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ भी लीरिक कविता आरम्भ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिन्दी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। गीतावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छन्दों में गीति आदि के प्रयोग किये हैं। अथवा अलंकारों की सहायता से सरस रचना में आकर्षकता दी है। सारांश यह कि गोस्वामी जी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रन्थों की रचना

की है और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छन्दों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मय-कारिणी है। हिन्दी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजन-शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिन्दी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृत के ग्रहण और व्यंजना की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है जिसके परिणाम-स्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था, और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों से दर्शनीय हुई है। छन्दों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रन्थ हिन्दी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबन्ध-कल्पना, क्या सम्बन्ध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिन्दी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अन्तिम प्रश्न संस्कृति का है।

गोस्वामी जी ने देश के परम्परागत विचारों और आदर्शों

को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रन्थ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म-ग्रन्थ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामी जी हिन्दू-जाति, हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि-कवि हैं। उनकी यशः-प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनन्त काल तक अङ्कित रहेगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परम्परा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्यकारण का सम्बन्ध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फलस्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों को फूलस्वरूप मानना पड़ेगा। फिर ये फूलस्वरूप ग्रन्थकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के फलस्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों के फूलस्वरूप होंगे! इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला जायगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न-भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदास जी के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदास जी में हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास सम्पन्न हो गया और उनके अनन्तर फिर क्रमोन्नत विकास की परम्परा बन्द हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की

ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदास में हिन्दी-कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई। उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इस में गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा दिखाई पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नक़ल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ कि जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिन्दी-कविता के कीर्ति-मन्दिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हमको गोस्वामी जी को हिन्दी-कवियों की रत्नमाला का सुमेरु मानकर ही पूर्वकथित साहित्य-विकास के सिद्धान्त की समीक्षा करनी पड़ेगी।

'मानस' की धर्म-भूमि

रामचन्द्र शुक्ल

धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है। धर्म है—ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टिरूप में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थिति में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के बीच हम करते हैं भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी भावना कुल-नायक या कुलदेवता तक ही पहुँचेगी, किसी जाति या देश-विशेष के भीतर जो करेंगे उनकी भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँचकर रह जायगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर जाकर सन्तुष्ट नहीं होती। वह अखिल विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है। उसके भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का

साक्षात्कार करता है तब आनन्द का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान् का सामीप्य लाभ करता चला जाता है। इसी से तुलसी को राम 'अन्तरजामिहु ते बड़ बाहरजामी' लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं—जैसे—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्ण धर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाला धर्म उच्च कोटि का है। धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्व धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्णधर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृहधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्गधर्म पर दृष्टि रखनेवाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोकधर्म पर दृष्टि रखनेवाला लोक या समस्त मनुष्य-जाति की रक्षा देखकर आनन्द का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्धधर्म

का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान् पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। अतः वे कीट-पतङ्ग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनन्द प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनन्द भी उच्च कोटि का होता है।

धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियाँ ऊपर कही गई हैं, वे उसके स्वरूप के सम्बन्ध में; उसके पालन के स्वरूप के सम्बन्ध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है; इसी प्रकार निम्न भूमि के धर्म का आचरण उच्च से उच्च कोटि का हो सकता है। ग़रीबों का गला काटनेवाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं; अकाल-पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चन्दा न देनेवाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह देख चुके हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामी जी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं। राम के लीलाक्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम-रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान् की इस स्थिति-विधायिनी व्यक्त कला में हृदय न रमाकर, बाह्य जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आँख-मूँदे अपने अन्तःकरण के किसी कोने में ईश्वर को ढूँढा करते

हैं उनके मार्ग से गोस्वामी जी का भक्तिमार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़कर, धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानों भगवान् उसकी दृष्टि से—खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्मज्योति फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है। अतः मोक्ष का—किसी ढंग के मोक्ष का—मार्ग धर्ममार्ग से बिल्कुल अलग-अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है। साधना किसी प्रकार की हो, साधक की पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अंग को सर्वथा छोड़कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रखकर धर्म और उपासना को अंग रूप में लेकर चले; कोई भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अंगरूप में रखकर चले। तुलसीदास जी भक्ति को प्रधान रखकर चलनेवाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्ति-भावना में यद्यपि तीनों का योग है पर धर्म का योग पूर्ण

परिमाण में है। धर्म-भावना का उनकी भक्ति-भावना से नित्य सम्बन्ध है।

'रामचरितमानस' में धर्म की ऊँची-नीची विविध भूमियों की झाँकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं-कहीं कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। उदाहरण के लिए भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य दीप्ति से हमारा हृदय जगमगा उठता है, उन्हीं को अपनी माता को चुन-चुनकर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग सन्देह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे उन्होंने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उल्लंघन कैसे कराया? धर्म की विविध भूमियों के सम्बन्ध में जो विचार हम ऊपर प्रगट कर आये हैं उन पर दृष्टि रखकर यदि समझा जाय तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आये हैं कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जनसमूह के सुख-दुःख से सम्बन्ध रखनेवाला होगा उतना ही उच्च श्रेणी का माना जायगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं, क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है जिसे राम प्रिय नहीं उसे धर्म प्रिय नहीं, इसी से गोस्वामी जी कहते हैं—

जाकें प्रिय न राम वैदेही।

सो नर तजिअ कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

इस राम-विरोध या धर्म-विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोकमग्न हो जाती है, दशरथ प्राणत्याग करते हैं। भरत कोई संसारत्यागी विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का ऐसा कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उनके राम-प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का, उनकी मनोवृत्तियों के बीच का क्या स्थान दिखाई पड़ता? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जायगा? भरत धर्म-स्वरूप भगवान् रामचन्द्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रक्खे गये हैं। अतः काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिए तो इस अमर्ष के द्वारा उनके राम-प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना एक विशेष लक्ष्य रखती है। महाकाव्य या खण्डकाव्य के भीतर जहाँ धर्म पर क्रूर और निष्ठुर आघात सामने आता है वहाँ श्रोता या पाठक का हृदय अन्यायी का उचित दण्ड—धिग्दण्ड के रूप में सही—देखने के लिए छटपटाता है। यदि कथा-वस्तु के भीतर उसे दण्ड देनेवाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है। इसके लिए भरत से बढ़कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकता था? जिन भरत के लिए ही कैकेयी ने सारा अनर्थ खड़ा

किया वे ही जब उसे धिक्कारते हैं, तब कैकेयी को कितनी आत्मग्लानि हुई होगी ! ऐसी आत्मग्लानि उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था। इस दरजे की आत्मग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नहीं की जा सकती थी।

सारांश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अवाध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।

अब विभीषण को लीजिए, जिसे गृहनीति या कुलधर्म की स्थूल और संकुचित दृष्टि से लोग 'घर का भेदिया' या 'भ्रातृद्रोही' कह सकते हैं। तुलसीदासजी ने उसे भगवद्भक्त के रूप में लिया है। उसे भक्तों की श्रेणी में दाखिल करते समय गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुलधर्म की संकुचित सीमा के भीतर बँधी न रहकर व्यापक लक्ष्य-वाले धर्म की ओर थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोकपीड़क है, उसके अत्याचार से तीनों लोक व्याकुल हैं, उसके अनुयायी राक्षस अकारण लोगों को सताते हैं और ऋषियों-मुनियों का वध करते हैं। विभीषण इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होकर भी लंका के एक कोने में साधु-जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय में अखिल लोक-रक्षक भगवान् की भक्ति है।

सीताहरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँचा दिखाई पड़ता है। हनूमान् से भेंट होने पर उसे धर्मस्वरूप भगवान् के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसकी उच्च धर्मभावना और भी जाग पड़ती है। वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नहीं मानता, तब उसके सामने दो धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृहधर्म या कुलधर्म के पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन का। भक्त की धर्मभावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है। अतः वह झट लोक-कल्याण-विधायक धर्म का अवलम्बन करता है और धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है।

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं पर लोक सँवारा॥
सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥
येहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ कि कोई। गुंजा ग्रहै परस मनि खोई॥
(उत्तर० ४३-४४)

३—जीव को आवागमन के दुःखों से मुक्त करने के लिए जो कर्म की व्यवस्था की गई है, वह उसके लिए समर्थ नहीं है, कारण यह है कि आवागमन का कारण कर्मों के संस्कार हैं—अंतर यही होता है कि शुभ कर्मों से शुभ संस्कार होने के कारण वह शुभ गतियाँ और अशुभ कर्मों के अशुभ संस्कार होने के कारण वह अशुभ गतियाँ प्राप्त करता है, इसलिए उस कर्म-मार्ग का परित्याग ही श्रेयस्कर है।

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥
काल रूप तिन्ह कर मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फल दाता॥
अस विचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृति दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक॥
(उत्तर० ४१)

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोएँ॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥
(उत्तर० ४९)

४—भवजनित क्लेश को नष्ट करने में ज्ञान समर्थ है।

भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
(उत्तर० ११५)

५—किंतु उस ज्ञान का स्वरूप-निरूपण, उसका बोध और उसका साधन—ये सभी कठिन हैं; कदाचित् ही कोई इसको प्राप्त कर पाता है।

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥
ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
(उत्तर० ११६)

६—जीव ईश्वर का अंश है, इसलिए वह सच्चिदानंद है। किंतु माया (अविद्या) के वश में हो जाने के कारण वह अपने उस चेतन रूप को भूलकर जड़ शरीर से अपने को अभिन्न समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि चेतन और जड़ परस्पर आवद्ध हो जाते हैं। अविद्या के अंधकार के कारण वह गाँठ खुल नहीं पाती। उस गाँठ को खोलने के लिए आध्यात्मिक प्रकाश चाहिए।

ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया बस भएउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब तें जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई । छूट न अधिक अधिक अरुझाई ।
जीव हृदयँ तम मोह बिसेषी । ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी ।
(उत्तर० ११७)

७—यह प्रकाश ज्ञान-साधन से प्राप्त हो सकता है, किंतु ज्ञान एक दीपक के समान है, जिसको प्रस्तुत करने में अनेक कष्टसाध्य क्रियाओं-प्रक्रियाओं की आवश्यकता होती है (उत्तर० ११७-११८) । प्रज्वलित हो जाने के अनंतर भी वह विषय की वायु का झोंका लगने पर बुझ जाता है, और जीव पुनः उसी अविद्या के अंधकार में पड़कर अपना अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पाता । (उत्तर० ११८)

८—दूसरी ओर रामभक्ति सुन्दर चिंतामणि के समान है, जो स्वयं प्रकाश है । यह अविद्या का अंधकार तो नष्ट करने में समर्थ है ही, इसके बुझने का कोई डर नहीं है । और इस चिंतामणि का प्राप्त करना भी सुगम है; अभागा मनुष्य स्वतः इसकी प्राप्ति का मार्ग बंद कर देता है । (उत्तर० १२०)

९—यह चिंतामणि वेदों और पुराणों के पवित्र पर्वतों में पाया जाता है, जिनमें रामकथा की सुन्दर खानें हुआ करती हैं; रामकथा की उन खानों को खोदने के लिए उसके मर्म को समझने वाली सद्बुद्धि की कुदाल चाहिए, और नेत्र चाहिएँ ज्ञान और वैराग्य के; यदि इन उपादानों के होते हुए कोई प्रेम-पूर्वक उस चिंतामणि की खोज करेगा, तो उसे वह अवश्य प्राप्त होगा । (उत्तर० १२०)

[गोस्वामी जी का ध्यान इस ओर कदाचित् नहीं गया कि

इसी प्रसंग में ज्ञान की उपलब्धि उन्होंने इतनी दुस्साध्य बताई है, और यहाँ वह अपेक्षाकृत सुगम कही गई भक्ति के लिए आवश्यक दो में से एक नेत्र के रूप में है]।

१०—अन्य साधनों की तुलना में भक्ति की विशेषता के और भी कारण हैं। और साधन पुरुषार्थ-प्रधान होने के कारण पुरुष और भक्ति परावलंबिनी होने के कारण स्त्री है; और माया भी स्त्री है। पुरुष स्वभाव से नारी की ओर आकृष्ट हो जाता है, किंतु नारी कभी नारी-रूप पर मोहित नहीं होती। इसके अतिरिक्त भक्ति राम की प्रियतमा है, जब कि माया उनके संकेतों पर नाचने वाली नर्त्तकी मात्र है; जिसके हृदय में उनकी प्रियतमा विराजमान रहती है, माया उसका भी अनिष्ट नहीं कर सकती। (उत्तर० ११६)

११—फलतः रामभक्ति के बिना मुक्ति एक प्रकार से असंभव है—और इस संबंध में गोस्वामी जी कितने निश्चित हैं!

रघुपति विमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भवबंधन छोरी॥
(बाल० २००)

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निरबान।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान॥
राकापति षोड़स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥

ऐसेहिं बिनु हरि भजन खगेसा। मिटै न जीवन केर कलेसा॥
(उत्तर० ७८)

जिमि बिनु थल जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरि भगति बिहाई॥
(उत्तर० ११६)

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं तरु बरु बहु बिधि फूला। जीवन न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम तें अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथे बरु होइ घृत सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
(उत्तर० १२२)

१२—इसलिए मानव जीवन प्राप्त करने की सार्थकता गोस्वामी जी केवल भक्ति-साधन में मानते हैं।

जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। स्रवनरंध्र अहिभवन समाना॥
नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख सम लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुरु पदमूला॥
जिन्ह हरि भगति हृदयँ नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥
जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥
(बाल० ११३)

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंदतर॥
काँच किरिच बदले ते लेहीं। करते डारि परसमनि देहीं॥
(उत्तर० १२१)

१३—किंतु वह भव-क्लेशहारिणी रामभक्ति विना रामकृपा के नहीं प्राप्त होती।

निज अनुभव मैं कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥
रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीत होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥
(उत्तर० ८९)

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥
(उत्तर० १२०)

सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। राम कृपा काहूँ एक पाई॥
(उत्तर० १२७)

१४—किंतु इसके लिए केवल इतना आवश्यक है कि सरल मन से राम का भजन किया जाय।

मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥
(बाल० २००)

१५—इस भक्ति का अर्थ है सर्वस्वभाव से प्रेम।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसइ धनु जैसें॥
(सुंदर० ४८)

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥
(अयोध्या० १३७)

उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥

(लंका० ११७)

१६—इस राम-प्रेम का प्रादुर्भाव सबसे अधिक राम-कथा-श्रवण से होता है।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत स्रवन छूटिहि भव पासा॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजै प्रीति राम पद कंजा॥
मुनि दुरलभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

(उत्तर० १२६)

राम उपासक जे जगमाहीं। येहि सम प्रिय तिन्हकें कछु नाहीं।

(उत्तर० १२०)

सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्हके स्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्हके हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(अयोध्या० १२८)

दूसरि रति-मम कथा प्रसंगा। (अरण्य० ३५)

रामकथा इसलिए राममक्ति और रामप्रेम की पराकाष्ठा है—

रघुपति भगति प्रेम परमिति सी। (बाल० ३१)

राम के चरित्र सीता-राम-प्रेम के जनक-जननी हैं—

जनक जननि सिय राम प्रेम के। (बाल० ३२)

१७—यह रामकथा संत-समाज में ही प्राप्त होती है, इसलिए रामभक्ति का सब से आवश्यक साधन संतसंग है—

तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सत संगा॥
सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई॥
जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥
नित हरिकथा होत जहँ भाई। पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह भाई॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा॥

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

(उत्तर० ६१)

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥

(अरण्य० १६)

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥

(उत्तर० १२०)

भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृति कर अंता॥

(उत्तर० ४५)

फलतः रामभक्त संत और राम को समान समझता है—

जानेसु संत अनंत समाना। (उत्तर० १०६)

बल्कि वह उसे राम से भी कुछ अधिक समझता है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा॥
(उत्तर० १२०)

फलतः सतसंग भक्ति का एक सर्वप्रमुख रूप है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। (अरण्य० ३५)

'रामचरितमानस' का प्रारंभ करते हुए गोस्वामी जी ने मंगलाचरण और गुरु-वंदना के अनंतर सब से प्रथम संत-वंदना की है (बाल० २—७)। इसके अंतर्गत जो उन्होंने खलों या असंतों की वंदना की है, वह भी वस्तुतः उनकी संत-वंदना का एक अंग मात्र है। यह वंदना फलतः पूर्ण रूप से सहेतु है।

इस वंदना की प्रारंभिक पंक्ति है।

बंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना॥

इसमें आये हुए 'महीसुर' शब्द से आशय साधारणतः 'ब्राह्मण' लिया गया है, किंतु यहाँ आशय 'संत' से है, जैसा बाद वाली पंक्ति से प्रकट है।

सुजन समाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी॥

अन्यत्र भी इसी प्रकार 'मुनि तापस' के समानार्थी के रूप में 'विप्र' और 'भूसुर' आया है।

अस जहँ राउर आयेसु होई। मुनि उद्वेग न पावइ कोई॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल मूल विप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
(अयोध्या० १२६)

१८—संत और रामभक्त का सब से बड़ा लक्षण है परोपकार; वे मित्र हो या शत्रु, सभी का निष्प्रयोजन और निरंतर कल्याण करने में निरत रहते हैं :

उमा संत कर इहइ बड़ाई। मंद करत जो करहिं भलाई॥
(सुंदर० ४१)

संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंधि बसाई॥
(उत्तर० ३७)

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥
सन इव खल पर बंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥
(उत्तर० १२१)

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥
(उत्तर० १२५)

रामभक्त परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
(अयोध्या० २१६)

स्वतः राम ने हनुमान् से कहा है कि उनका अनन्य भक्त वह है जो चराचर विश्व में उनका स्वरूप देखता हुआ उसकी सेवा में लगा रहता है।

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(किष्किंधा० ४)

संतों और रामभक्तों के जो लक्षण गोस्वामी जी ने बताये हैं, उनसे उनकी रामभक्ति का स्वरूप अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। उनकी रामभक्ति कोई लोकबाह्य साधना नहीं है; वह परोपकार, लोक-कल्याण और सचराचर विश्व-सेवा के रूप में प्रस्फुटित होती है। गोस्वामी जी की रामभक्ति कोरी भावुकता नहीं है, उसका विकास लोक-जीवन में दिखाई पड़ता है। यही कारण है कि तुलसीदास के जितने भी रामभक्त हैं—भरत उनमें सबसे अग्रगण्य हैं—वे नैतिक दृष्टि से प्रायः उच्चतम धरातल पर हैं।

१९—रामभक्ति का दूसरा सबसे बड़ा साधन नाम-स्मरण है। रामभक्ति के साथ राम-नाम के दो अक्षरों का संबंध प्रायः उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार वर्षा ऋतु के साथ सावन-भादों के महीनों का ।

वर्षा रितु, रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम वर वरन जुग सावन भादौं मास ॥

(बाल० १९)

२०—रामभक्त चार प्रकार के माने गये हैं: आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी। इन चारों के लिए राम-नाम साधना का आधार है।

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृति चारिउ अनघ उदारा॥
चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेष पिआरा॥
सकल कामना हीन जे राम भगति रसलीन।
नामसु प्रेम पियूष ह्रद तिन्हहु किए मन मीन॥
(बाल० २२)

२१—'रामचरितमानस' की भूमिका में संत-वंदना के अतिरिक्त जो सबसे बलशाली वंदना है, वह राम-नाम की है। तुलसीदास ने उनमें अनेक दृष्टिकोणों से राम-नाम की महत्ता प्रतिपादित की है। उनकी तर्क-प्रणाली वहाँ इस प्रकार है।

नाम और रूप—ईश्वर की दो उपाधियाँ हैं। उनमें से रूप ही नाम के आधीन है।

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुन गुन भेद समुझिहहिं साधू॥
देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतल गत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
(बाल० २१)

निर्गुण और सगुण—ब्रह्म के दो रूप हैं। राम-नाम इन दोनों से भी बड़ा है—और गोस्वामी जी कहते हैं कि उनका यह कथन प्रौढ़ोक्ति न समझा जाय, वरन् यह उनके मन की प्रतीति, प्रीति और रुचि मानी जाय।

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहूँ तें। किए जेहि जुग निज बस निज बूते॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामतें॥
(बाल० २३)

निर्गुण ब्रह्म से वह इसलिए बड़ा है कि नाम का आश्रय लिए बिना वह ब्रह्म सगुण-होकर लोक-कल्याण नहीं करता है:—

व्यापकु एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥
(बाल० २३)

इतना ही नहीं, नाम सगुण या अवतारी ब्रह्म से भी बड़ा है: क्योंकि जो कार्य सगुण ब्रह्म ने अवतार धारण करके और अनेक साधनों का आश्रय लेकर किया है, वह कार्य नाम बिना प्रयास नित्य ही किया करता है। राम ने अवतार धारण करके यही तो किया कि उन्होंने अपने भक्तों का उद्धार किया और उनको उनके संकटों से मुक्त किया। नाम का तो यह प्रति-दिन का कार्य है।

राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी॥

सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा ॥
भंजेउ आपु राम भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू ॥
दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नाम सकल कलि कलुष निकंदन ॥

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल वेद विदित गुनगाथ ॥

राम सुकंठ विभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ ॥
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक वेद वर विरिद विराजे ॥
राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा ॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं ॥
राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा ॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि वर बानी ॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु स्रम प्रबल मोह दल जीती ॥
फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ॥
(बाल० २१—३०)

ऊपर से देखने पर सचमुच यह कथन प्रौढ़ोक्ति प्रतीत होंगे; किंतु गोस्वामी जी ने पहले ही से इस विषय में सावधान कर दिया है, इस लिए हमें इन कथनों को उनकी भावनाओं का यथातथ्य रूप ही मानना पड़ेगा। गोस्वामी जी का विश्वास राम की अवतारी लीला में कदाचित् उतना ही था, जितना कि उनकी नित्य की आध्यात्मिक लीला में—

जे रामेश्वर दरसनु करिहहिं । ते तनु तजि मम लोक सिधरिहिं ॥
जे गंगाजल आनि चढ़ाइहिं । सो सायुज्य मुक्ति नर पाइहिं ॥
होइ अकाम जो छलु तजि सेइहि । भगति मोरि तेहि संकर देइहि ॥
(लंका० ३)

अपनी भक्ति की प्राप्ति के लिए तो वे शिवभक्ति को नितांत अनिवार्य बताते हैं—

सिव द्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न भावा ॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ़ मति थोरी ॥
(लंका० २)

अपने अंतिम संदेश में अपनी प्रजा से कितने आग्रहपूर्वक वे यही बात कहते हैं—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहौं कर जोरि ।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥
(उत्तर० ४५)

मानस की वंदनाओं में शिव की वंदना करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है—

सेवक स्वामि सखा सिय पी के । हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के ॥
(बाल० १५)

शिव की स्तुति भी उन्होंने प्रायः उन्हीं शब्दों में की है, जिन शब्दों में उन्होंने राम की स्तुतियां की हैं ।

नमामीशमीशान निर्वाण रूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म ,वेदस्वरूपं ॥
अजं निर्गुणं निर्विल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहं ॥
निराकारमोंकार मूलं तुरीयं। गिरा ज्ञान गोतीतमीशं गिरीशं ॥
करालं महाकाल कालं कृपालं। गुणागार संसार पारं नतोऽहं ॥
(उत्तर० १०८)

२४—अन्यत्र भी वे शिव को विष्णु के साथ रखते हैं।

संत संभु श्रीपति अपवादा। सुनिअ जहँ तहँ असि मरजादा ॥
काटिअ तासु जीभ जु बसाई। स्रवन मूँदि न त चलिअ पराई ॥
(बाल० ६४)

विष्णु और शिव का इस प्रकार का सहयोग उन्हें अभीष्ट था, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है, क्योंकि दक्ष-यज्ञ की जो कथाएँ अन्यत्र मिलती हैं—उदाहरणार्थ 'श्रीमद्भागवत' (४.७) में—उनमें दक्ष के निमंत्रण पर उनके यज्ञ में ब्रह्मा और विष्णु भी जाते हैं, किंतु 'रामचरितमानस' में त्रिदेव में से कोई नहीं जाता है—

विष्णु विरंचि महेस बिहाई। चले सकल सुर जान बनाई ॥
(बाल० ६१)

यदि 'मानस' में भी विष्णु और ब्रह्मा गये होते, तो उन्हें यहाँ भी दक्ष-यज्ञ में शिव का प्रत्यक्ष अपमान देखना पड़ता, जैसा अन्यत्र हुआ है। गोस्वामी जी ने संभवतः जान-बूझ कर यह विषम परिस्थिति नहीं आने दी है।

प्रश्न यह है कि गोस्वामी जी ने यह सब क्यों किया है? क्या केवल इसलिए कि वैष्णवों और शैवों में प्रायः जो झगड़ा रहा करता था, उसको मिटाने के लिए, जैसा कि पंडितों का मत है, या इसका कोई और कारण है?

यदि इतनी ही बात होती, तो वे कदाचित् शिवचरित को अपने रामचरित ग्रंथ के पूर्व रख कर उसे उसका एक अनिवार्य अंग इस प्रकार न बनाते। 'मानस' में मुख्य रामकथा के पूर्व और कई प्रसंग हैं—जिनमें से प्रमुख नारद-मोह, मनु-सतरूपा तपस्या, प्रतापभानु का अभिशाप आदि; किंतु इन सब का संबंध रामावतार या रावणावतार के कारणों से है। केवल शिवचरित ऐसा है जिसका कोई संबंध मुख्य रामकथा अथवा रामावतार के कारणों से नहीं है। फिर भी यह चरित उन सब की अपेक्षा विस्तृत (बाल० ४७—१०४) है—यह 'मानस' के दो कांडों—अरण्य और किष्किंधा—से बड़ा और एक तीसरे कांड—सुंदर के बराबर है।

कहा जा सकता है कि 'मानस' का काकभुशुंडि-गरुड़-संवाद भी रामकथा का कोई अनिवार्य अंग नहीं है, और वह भी आकार में इतना ही है। किंतु उक्त संवाद का दृष्टिकोण भिन्न है। उसका आश्रय लेकर कवि ने उन अनेक पारमार्थिक तत्त्वों का निरूपण किया है जिनको यदि उसने इतनी ही पूर्णता के साथ 'अध्यात्म रामायण' की भाँति किसी न किसी ढंग से कथा-विधान में स्थान देने का यत्न किया होता तो कथा के कलात्मक प्रभाव को गहरी हानि पहुँचती।

कदाचित् समझ-बूझ कर उसने उक्त संवाद के ढाँचे में अनेक विषयों पर अपने विचार ग्रंथ के परिशिष्ट के रूप में रक्खे हैं। शिवचरित की परिस्थिति इससे भिन्न है।

शिवचरित को रामचरित की भूमिका के रूप में रखने का अभिप्राय स्वतः कवि ने उस चरित के अंत में स्पष्ट कर दिया है—

प्रथमहि मैं कहि सिवचरित बूझा मरम तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार॥

(बाल० १०४)

शिवप्रेम रामप्रेम की परीक्षा है, जिसके मन में शिवकथा पर अनुराग नहीं, उसे राम-कथा में भी वास्तविक आनंद नहीं आ सकता—

अहो धन्य तव जन्म मुनीसा। तुम्हहि प्रान सम प्रिय गौरीसा॥
सिव पद कमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सुहाहीं॥
बिनु छल विस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥
(बाल० १०४)

यह सब केवल इस कारण है कि शिव राम के एक महान् भक्त हैं। उन्होंने भक्त का एक ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने केवल इसलिए सती जैसी पुण्यात्मा नारी का परित्याग कर दिया था कि उसने सीता का रूप धारण कर लिया था—उन सीता का जो उनकी आराध्या हैं—

सिव सम को रघुपति व्रत धारी । बिनु अघ तजी सती जसि नारी ।
पनु करि रघुपति भगति दृढ़ाई । को सिव सम रामहि प्रिय भाई ॥
(बाल० १०४)

उनका जो शेष चरित्र 'मानस' में चित्रित हुआ है; वह भी पूर्ण रूप से राम भक्त के अनुरूप है । वस्तुतः रामकथा में भरत का जो राज्य-त्याग है, गोस्वामी जी ने उसी स्तर पर शिव के इस सती-त्याग को भी रक्खा है, और यही कारण है कि जैसे भरतचरित को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा है—

भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं ।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति ॥
(अयोध्या० ३२६)

ठीक उसी प्रकार उन्होंने राम के द्वारा ऊपर का कथन कहलाया है ।

रामभक्ति के कुछ और साधनों के भी उल्लेख जहाँ-तहाँ गोस्वामी जी ने किये हैं किंतु वे गौण हैं । प्रमुख ये ही हैं ।



सूर-साहित्य का गौरव

वेदमित्र व्रती

सूर का वात्सल्य-वर्णन हमारे साहित्य की अमूल्य निधि है। हिंदी साहित्य में ही क्या, संभवतया संपूर्ण भारतीय साहित्य में भी उनके जोड़ का वात्सल्य का चतुर चितेरा नहीं मिल सकेगा। उनका अकेला वात्सल्य-वर्णन ही उनके यश को अमर रखने के लिए पर्याप्त है। इसीलिए तो उन्हें वात्सल्य-रसावतार कहा जाता है। सूर ने इस रस को कुछ ऐसा अपना लिया है कि वात्सल्य का नाम लेते ही सूर का भान हो आता है और सूर का नाम लेते ही बाल-कृष्ण की मूर्ति आँखों के आगे नाचती हुई प्रतीत होने लगती है। बस यही तो सूर और वात्सल्य का अन्योन्याश्रय संबंध है। भौतिक नेत्र देने के बदले उस अंधे संत को ज्ञानचक्षु तो मिले ही, साथ ही माता के उदार हृदय की कोमलानुभूति भी प्राप्त हो गई। उस वैरागी महात्मा के बाल-वर्णन में जो स्वाभाविकता, मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता आ पाई है वह किसी गोद-भरी माँ को भी कहाँ मिल सकेगी! इसी पर तो किसी ने कह डाला था—"तत्व-तत्व सूरा कही।" बालस्वभाव की कौन सी चेष्टा है जिसका वर्णन सूर के पदों में न हुआ हो। जन्द-दिन से लेकर कुमारावस्था के मध्य तक की एक-एक घड़ी सूर के पदों में अपने मुँह बोल पड़ी है।

कृष्ण का कोमल स्वरूप अभी पालने में विकस रहा है। देख-देखकर माँ का हृदय फूला नहीं समाता। वही उसकी अपार आशाओं का पुंज है। माँ की मनोभिलाषाओं में उसका पावन हृदय झाँक उठा है। कितनी उत्सुकता है माँ के मन में—

"जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वै धरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै, कब जननी कहि मोहि ररै॥
कब मेरो अंचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसों झगरै॥"

माँ की मनोकामना सफलीभूत हुई। कन्हैया दो-दो पग चलने भी लगे। माँ, भाई और बाबा को पुकारने भी लग पड़े। माँ का हृदय उस हृदय में रम-रमकर रह गया—

"बालक चलत पग द्वै-द्वै धरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत ही सो छबि जाय न बरनी।"

तथा

"कहन लगे मोहन मैया-मैया।
पिता नंद सौं बाबा-बाबा, अरु हलधर सौं भैया॥
मनि खंभन प्रतिबिंब बिलोकत नचत कुंवर निज पैया।
नंद जसोदा जू के उर तें यह छबि अनत न जैया॥"

बाल लीलाएँ दिन-दिन बढ़ने लगीं और साथ ही उनका आनन्द भी द्विगुणित होने लगा। माँ का हृदय अपने लाल को थोड़े दिन में सहसा कुमारावस्था में देखने को उत्सुक

है। बच्चा शीघ्र ही बड़ा हो। कितना अच्छा होगा वह दिन जिस दिन कन्हाई बड़ा होगा। परंतु, वह दूध पिये तब न ! माँ ने लालच दिया—बेटा, दूध पियोगे तो चोटी बड़ी हो जाएगी। भोले ने विश्वास में दूध पी लिया। एक हाथ में दूध का कटोरा था, दूसरे में चोटी। दूध सारा पिया गया, परंतु चोटी बाल भर भी न बढ़ी। एक नहीं, अनेक बार यही नाट्य होता है। एक दिन खिज ही पड़े आखिर बोले—

"मैया, कबहि बढ़ैगी चोटी,
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तूं जो कहत बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।"

सूर केवल बच्चों की रूठान से ही परिचित हों, यह बात नहीं। दुलारे को बहकाकर बहलाया कैसे जायेगा, यह भी उन्हें अच्छी तरह ज्ञात है। माँ ने तुरंत कह दिया— "बेटा, चोटी बढ़ाने के लिए काली का दूध पियो न; तुमने कोई काली का दूध थोड़े ही पिया है, अभी तो तुम धौली का ही दूध पीते रहे हो। बेटा—

"कजरी का पय पियहु लाल तब चोटी बाढ़ै।"

ये लाडले बच्चे अपनी ज़िद के कितने अड़ियल होते हैं। सूर का बाल-कृष्ण भी जिद कर बैठा; उसे चाँद चाहिए खेलने के लिए—

मैया, मैं तो चंद खिलौना लैहौं।
जैहों लोट धरनि पर अबही, तेरी गोद न ऐहौं॥
सुरभी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वै हौं पूत नंद बाबा को, तेरो सुत न कहैहौं॥

अड़ तो भारी थी, परंतु माता ने चतुराई से समझा ही लिया। कितना सुंदर उपाय निकाल लिया, बोलीं—

आगे आऊ बात सुनु मोरी, बलदाऊ बहु न जनैहौं।
हँसि समुझावति कहति जसोदा, नई दुलहिया ब्यैहौं॥
तेरी सौं मेरी सुनि मैया, अबहि बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं॥

कन्हैया, बड़े भैया बलदाऊ के साथ खेलने के लिए बच्चों में चले जाते हैं। कभी हँसी में दाऊ ने कुछ कह दिया। बस माता के दर्बार में अभियोग लगाकर न्याय का प्रार्थना-पत्र पेश कर दिया गया।—देख न मेरी भोली माँ, दाऊ बड़ा शैतान है। मुझे स्वयं भी खिझाता है और साथियों से भी मुझे अपमानित कराता है। तू भी तो उसे कुछ नहीं कहती। कहे भी क्यों! छोटा समझ कर मुझे ही मार लेती है। पिटना-छितना सब मेरे ही तो भाग्य में है न!—

"मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मो सौं कहतु मोल को लीनों, तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं इस रिस के मारे, खेलन हौं नहि जात।
पुनि-पुनि कहतु कौन तुव माता, कौन तिहारो तात॥

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाऊहि कबहु न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

अभियोग बड़ा संगीन था और करुणाभरे स्वर में न्याय की प्रार्थना की गई थी। माँ ने लाडले को गोद में बिठा लिया, मुख चूमा और न्यायाज्ञा सुना डाली—

सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं जननी तू पूत॥

सूर, तुम्हें भी माँ का सुलभ हृदय मिला होगा!—"मोहे गोधन की सौं, हौं जननी तू पूत"—किन मार्मिक शब्दों से श्रोता की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया तुमने। "गोधन की सौं, मैं माँ हूँ—तू पुत्र है बच्चे!"—इन्हीं दो शब्दों में वात्सल्य साकार हो उठा है।

चस्का बुरा! माँ कहती है—बेटा कन्हैया, दूध पी! बेटा माँगता है माखन-रोटी। घर में मक्खन, ब्रजभर में मक्खन, पर कृष्ण के भाग्य में थोड़ा-सा भी नहीं। मक्खन जैसी वस्तु का चुराना कोई बुरा थोड़ा ही है। कोई शराब तो नहीं कि चोरी से पीने पर बदनामी का भय हो। दल-बल सहित चोरी को निकल पड़े। चोरी में सौजन्य कैसा। मक्खन स्वयं खाया, कुछ बच्चों को खिलाया; बर्तन फोड़े, दूध दही इधर-उधर बिखरा छोड़ा। सोये-पड़े बच्चों को छेड़कर जगा

दिया और अवसर मिला तो बछड़ों को भी खोलकर भगा दिया—

गोरस खाइ खवावै लरिकनि, भाजत भाजत भानि।
बड़ो माट इक बहुत दिनन को, ताहि कियो दस टूक॥
माखन खात, दूध लै डारत, लेपत देह दही।
ता पाछें घरहू के लरिकनि, भाजति छिरकि मही॥
चोर, अधिक चतुराई सीखी, जाइ न कथा कही।
तापर सूर बछरुवनि ढीलत, बन-बन फिरतिं वही॥

एक-दो दिन की बात हो तो सहा भी जाय, आये दिन की चोरियों ने गोपियों को तंग कर दिया। बेचारी शिकायत लेकर नंदरानी के दर्बार में उपस्थित हो गईं। पर पांच-सात साल का बच्चा, क्या उसमें चोरी करने का हौसला हो सकता है! फिर अपने ही घर में क्या कोई कमी है किसी वस्तु की! कन्हैया और चोरी! माँ को विश्वास नहीं आया—

मेरे गोपाल तनिक सौं, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वालिनी, जो कह कह करैं सो थोरी॥
कब छींके चढ़ि माखन खायो, कब दधि मटुकी तोरी।
अंगुरिन करि कबहूँ नहिं चाखत, घर ही भरी कमोरी॥

एक बार—दो बार—चार बार सही, परन्तु ये उलहने तो प्रतिदिन की बात बन गये। आखिर क्रोध आ ही गया, माँ को। धमकाकर पूछा—कन्हैया, सत्य बोलो बेटा, बात क्या है? बच्चा बोल उठा—भोली-भाली

मैया मेरी, मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो ॥
देखि तुही, छींके पर भाजन, ऊंचे धर लटकायो ।
तुही निरखि नान्हे कर अपने, मैं कैसे दधि पायो ॥

और देखिए चतुराई—

मुख दधि पोंछि कहत नंद-नंदन, दौना पीठि दुरायो ।

चातुर्य की वाणी ने यशोदा का क्रोध ढीला कर दिया। माँ का हृदय करुणार्द्र हो उठा। गोपियाँ भी भोले की वाक्-चातुरी पर आँखें भर लाईं। तभी तुरंत—

डारि सांटि, मुसकाय तबै गहि सुत को कंठ लगायो ॥

पर बात इतने पर ही तो समाप्त नहीं हो गई। चोर चोरी से गया तो क्या हेरा-फेरी से भी गया! आदत छूट ही न सकी। आखिर एक दिन ऐन मौके पर पकड़े ही गये। गोपियों ने समझ लिया था कि आज कन्हैया को कोई भी बहाना नहीं मिल सकेगा। बोलीं—

स्याम कहा चाहत से डोलत ।
पूछे से तुम वदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत ॥
सूने निपट अंधियारे मंदिर, दधि भाजन में हाथ ।
अब कहि कहा बनै हो ऊतर, कोऊ नाहिन साथ ॥

स्याम कुछेक क्षणों के लिए सकपका गये, परंतु तुरंत ही सूर का काव्यत्व उनकी वाणी पर बोल उठा—

मैं जान्यौ यह घर अपनो है, या धोखे में आयो ।
देखत हो गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो ॥

आख़िर एक दिन माँ का क्रोध सीमा को लाँघ उठा—पकड़ा और दोनों हाथ यमलार्जुन वृत्त से बांध दिये। नन्हें हाथों में रस्सी का यह कठोर बंधन !—सभी ने उलहना दिया। स्वयं गोपियों ने इस कठोरता पर यशोदा को वहुत भला-बुरा कहा। इतने में दाऊ भी किसी चोरी से लौट कर आ पहुँचे। दादा को देखते ही अनुज की आँखें वह निकलीं; हिलक-हिलक कर रोने लगे। बल भैया ने कन्हैया को गले लगा लिया। माँ के डर से बन्धन तो नहीं खोल सके, परन्तु आँखें उनकी भी भर आईं। कह उठे—

मैं बरज्यो कै बार कन्हाई,
भली करी दोउ हाथ बँधाये।

फिर माँ के चरणों पर गिरकर हा-हा खाकर कहने लगे—

स्यामहि छोड़ि, मोहि बरु बांधै।

मेरी कठोर माँ, न बाँध नन्हे भाई को तू। कितना कठोर है तेरा जी, जो तनिक से अपराध पर इतना कष्ट दे रही है। कहते हैं, इतने में यमलार्जुन गिर पड़े और कृष्ण बंधन-मुक्त हो गये। वताते हैं, आज यमलार्जुन के अभिशाप की अवधि समाप्त हो गई थी, परंतु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्यातिरेक

यमलार्जुन की जड़ को गीला कर

हिलीं और उखड़ गईं; कृष्ण

ही नहीं, वात्सल्य को

उमड़ाने वाले चित्र सूर ने और भी अनेक प्रस्तुत किये हैं। बच्चा चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय, परंतु माँ के लिए तो फिर भी वह बच्चा ही है।

कंस के बुलावे पर दोनों लाडले अक्रूर के साथ मथुरा-गमन के लिए तैयार हो रहे हैं—उन्हें जाने का चाव चढ़ा है, पर इस प्रवास का प्रभाव माता के हृदय से पूछो! वह करुण स्वर से पुकार उठती है—अरे, कोई रोको मेरे बच्चों को मथुरा जाने से।

> वरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै गैलौ।
> इतनौ ही सुख कमल नैन मो, अँखियन आगे खैलौ॥

पर इस विपदा में कोई भी सगा न निकला, लाल चले ही गये। जाते-जाते हिचकी-बँधी वाणी से शीघ्र लौट आने को आग्रह कर दिया।

चले गये और गये भी बहुत से दिन व्यतीत हो गये। राह चलते राहगीरों के हाथों संदेश जाने आरम्भ हो गये—

> सूर पथिक! सुनि मोहि रैनि-दिन बढ़ो रहतु जिय सोच।
> मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वै है करत संकोच॥

पर फिर भी न आये लाड़ले। बड़े ताने-भरे शब्दों में आने की अपील की—

> वह मातो नहिं मानत मोहन, मनों तुम्हारी धाय।

लो न सही, माँ न मानों कोई बात नहीं, मुझे धाय समझ कर ही एक बार दर्शन दे जाओ मेरे लाल!

आखिर एक दिन माँ का क्रोध सीमा को लाँघ उठा—पकड़ा और दोनों हाथ यमलार्जुन वृक्ष से बांध दिये। नन्हें हाथों में रस्सी का यह कठोर बंधन!—सभी ने उलहना दिया। स्वयं गोपियों ने इस कठोरता पर यशोदा को बहुत भला-बुरा कहा। इतने में दाऊ भी किसी चोरी से लौट कर आ पहुँचे। दादा को देखते ही अनुज की आँखें बह निकलीं; हिलक-हिलक कर रोने लगे। बल भैया ने कन्हैया को गले लगा लिया। माँ के डर से बन्धन तो नहीं खोल सके, परन्तु आँखें उनकी भी भर आईं। कह उठे—

मैं बरज्यो कै बार कन्हाई,
भली करी दोउ हाथ बँधाये।

फिर माँ के चरणों पर गिरकर हा-हा खाकर कहने लगे—

स्यामहि छोड़ि, मोहि बरु बांधै।

मेरी कठोर माँ, न बाँध नन्हे भाई को तू। कितना कठोर है तेरा जी, जो तनिक से अपराध पर इतना कष्ट दे रही है। कहते हैं, इतने में यमलार्जुन गिर पड़े और कृष्ण बंधन-मुक्त हो गये। बताते हैं, आज यमलार्जुन के अभिशाप की अवधि समाप्त हो गई थी, परंतु हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वात्सल्यातिरेक से करुणा के गीलेपन ने यमलार्जुन की जड़ को गीला कर दिया था; आर्द्रातिरेक से जड़ें हिलीं और उखड़ गईं; कृष्ण बंधन-मुक्त हो गये।

बाल-लीला और माखनचोर-लीला ही नहीं, वात्सल्य को

उमड़ाने वाले चित्र सूर ने और भी अनेक प्रस्तुत किये हैं। बच्चा चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो जाय, परंतु माँ के लिए तो फिर भी वह बच्चा ही है।

कंस के बुलावे पर दोनों लाडले अक्रूर के साथ मथुरा-गमन के लिए तैयार हो रहे हैं—उन्हें जाने का चाव चढ़ा है, पर इस प्रवास का प्रभाव माता के हृदय से पूछो! वह करुण स्वर से पुकार उठती है—अरे, कोई रोको मेरे बच्चों को मथुरा जाने से।

> बरु ए गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदि लै गैलौ।
> इतनौ ही सुख कमल नैन मो, ऋँखियन आगे खैलौ॥

पर इस विपदा में कोई भी सगा न निकला, लाल चले ही गये। जाते-जाते हिचकी-बँधी वाणी से शीघ्र लौट आने को आग्रह कर दिया।

चले गये और गये भी बहुत से दिन व्यतीत हो गये। राह चलते राहगीरों के हाथों संदेश जाने आरम्भ हो गये—

> सूर पथिक! सुनि मोहि रैनि-दिन बढ़ो रहतु जिय सोच।
> मेरो अलक लड़ैतो लालन ह्वै है करत संकोच॥

पर फिर भी न आये लाड़ले। बड़े ताने-भरे शब्दों में आने की अपील की—

> वह मातो नहिं मानत मोहन, मनों तुम्हारी धाय।

लो न सही, माँ न मानों कोई बात नहीं, मुझे धाय समझ कर ही एक बार दर्शन दे जाओ मेरे लाल!

सूर के इन करुण भरे शब्दों में माँ के हृदय का वात्सल्य छलका पड़ रहा है।

कहते हैं सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कन्हैया दल-बल से कुरुक्षेत्र पहुँचे और उधर से गोप-गोपियों सहित नंद और यशोदा भी। भेंट हुई; कृष्ण-बलराम ने माता-पिता के चरण छुए। प्रेमाधिक्य से माता की तो वाणी ही रुक गई—असीस देते ही न बना; मूर्छित होकर गिर पड़ी। कन्हैया लिपट-लिपट कर रोने लगे। बोले—

तेरी यह जीवन-मूरि, मिलहि किन माई ?
महाराज जदुनाथ कहावत तेरो तो वह कुंवर कन्हाई॥

कन्हैया ने कहा—माँ, मैं यादवों का नाथ तो हूँ, परंतु तेरा "कुंवर कन्हैया" ही हूँ। और सूर ने कहा—

रोम पुलकि, गदगद सब तेहि छिन ,
जलधारा नैननि बरसाई।

इस जलधारा में खारापन थोड़े ही था। यही तो मातृप्रेम था। इसी प्रेम-समुद्र का मंथन करके तो सूर ने अमृत-तुल्य वात्सल्य रत्न हमारे साहित्य को प्रदान किया था। वात्सल्य की सभी अवस्थाओं का जैसा सजीव वर्णन सूरदास ने किया है, वैसा भारतीय साहित्य में अन्यत्र तो दुर्लभ ही है।

"सूर सूर तुलसी ससि" वाली उक्ति का आधार वास्तव में उनका मातृप्रेम-वर्णन ही था। हमारे साहित्य में सूर के परवर्ती कवियों ने भी वात्सल्य का सुंदर चित्रण किया है,

परंतु वहाँ सब कुछ सूर की जूठन-सी ही प्रतीत होती है। तभी तो आलोचकों ने कहा है—"सूर ही वात्सल्य है और वात्सल्य ही सूर है।" इसी सत्य से प्रभावित होकर तो प्रसिद्ध संगीताचार्य तानसेन ने कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन मन धुनत सरीर॥

सूर का शृंगार

सूर की ख्याति की दूसरी वस्तु है इनका शृंगार-वर्णन। उनके यहाँ वात्सल्य तो अनुपमेय रहा ही है, शृंगार भी अपने ढंग का और उच्च कोटि का ही बन पड़ा है। शृंगार के भेद हैं—संयोग और विप्रलंभ। जायसी की नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में विप्रलंभ शृंगार का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उसको छोड़कर सूर शृंगार के सर्वोच्च कवि कहे जा सकते हैं। शृंगार की वह कौनसी अवस्था है जो सूर से अछूती रह गई हो। सूर की रसिकता तो सर्वविदित है ही। वे जिस रस में कभी भीग चुके थे उसकी अनुभूति उनसे विलग हो भी कैसे सकती थी। वस्तुतः प्रेमानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रबंध की अपेक्षा गीति-पद्धति कहीं अधिक प्रभावजनक होती है; और सूर के गीत तो मानों उनकी रसिकता से और भी सरस हो जाते हैं। विषय की तल्लीनता कवि की सफलता के लिए परम सहायक वस्तु है। इसी तल्लीनता की अनुभूति के लिए सूर उन भौतिक नेत्रों का परित्याग करके साधना-लीन हुए थे। यदि

इस साधना के फलस्वरूप उन्हें अपने कृष्ण का मनमोहक, लुभावना चित्र अपनी अलौकिक झाँकी से चमत्कृत कर भी गया तो अचरज की बात ही क्या ! कृष्ण के चरित्र में इस शृंगारिकता ने कोई विशेषता उत्पन्न की हो यह तो हम नहीं मान सकते। महाभारत का वह नीतिकार—उपदेष्टा मुग़लकाल का मन-ललचावक नायक बनकर ही रह गया। भले ही भक्तों ने अपनी मानसिक तल्लीनता के लिए कृष्ण को इस रूप में सज्जित किया होगा; भले ही तत्कालीन आचार्योंने निराश्रित जनता को उस समय धीरज बँधाने के लिए इस कल्पना को एक अकाट्य युक्ति के रूप में स्वीकार किया होगा, परन्तु यह मनवाने का दावा नहीं किया जा सकता कि कृष्ण की राधा, उसकी अन्य गोपियाँ, मुरली-माधुरी तथा लीला-क्रीड़ाएँ समाज की युवतियों के सम्मान को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सकीं। अस्तु ! कुछ भी सही, गुरुडमवाद की गोद में पली इस रसिक भक्ति में अनेक रसिया-छैला गोता लगाकर निकले। सूर के अपने ही जीवन में तो नगर-नारियों ने श्रीनाथ जी के मंदिर में आचार्य महाप्रभु के संग रास रचाये थे। आज ही नहीं, यह बात खटक तो उसी दिन गई थी। तभी तो कृष्ण--चरित्र को इस प्रकार दूषित होता हुआ देखकर मर्यादा-भक्त, भारतीय चेतना-प्रतीक महात्मा तुलसीदास ने विष्णु के मर्यादारूप अवतार राम को साहित्य का विषय बनाने का बीड़ा उठाया था, परंतु खेद है कि इनका वह पथ प्रशस्त नहीं हो सका। जनता ने इंद्रियानुभूतिजन्य सुखों के सामने मर्यादा के श्रेयस्कर पथ

को न अपनाकर अपनी भूल को दोहरा ही तो दिया। यदि तुलसी की मर्यादा-महत्ता को जनता ने अपना लिया होता तो हिंदी साहित्य में भक्ति-प्रवाह के पश्चात् शृंगार-साहित्य की अवतारणा न हुई होती। ख़ैर, जो भी हुआ उसके लिए सूर ही एक-मात्र दोषी थे, यह भी हम नहीं कह सकते। हमारी इस मनोवृत्ति पर मुस्लिम-विलासिता का प्रभाव भी अपना रंग चढ़ा चुका था। और यह भी नहीं कहा जा सकेगा कि यहाँ सब केवल काले कोयले ही थे। नहीं, कुछ संच्चे हीरे भी इनमें थे ही; जिनमें सच्ची भक्ति और सच्ची अनुभूति का अंकुर उगा-विकसा और फला-फूला। ऐसे ही तथ्यवादियों में से भक्त-प्रवर रसखान का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जायगा जो सूर की भाँति ही रसिकों के मुहल्ले से आकर विरागियों की बस्ती में आ बसे थे।

सूर ने अपने शृंगार में राधा-कृष्ण के प्रेम को प्रमुखतया बाह्यार्थ विधान से ही सज्जित किया है। उसमें क्रीड़ा, विलास, रास, संयोग की विधियाँ और छेड़-छाड़ की बातें ही प्रमुख हैं। वियोग शृंगार में जिन संचारियों का प्रयोग रहा है, वे भी अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं हैं। प्रेम की लीनता का वह रूप कम ही मिलता है जिसमें अनुभूतियों की व्यंजकता स्पष्ट हुआ करती है। पर कुछ भी हो, सूर की राधा हमारे साहित्य की अनुपम कृति है। राधा से कन्हैया का बचपन का संग है। उनके पहले आकर्षण के सम्बन्ध में देखिए—

खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भंवरा चकडोरी ॥
गये स्याम रवितनया के तट, अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही राधा तहं देखी, नयन बिसाल भाल दिये रोरी ॥
नील वसन फरिया कटि पहने, बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ॥

इस प्रथम दर्शन में ही वे परिचय बढ़ाने के लिए उत्सुक हो उठे—

बूझत स्याम, कौन तू गौरी ?
कहां रहत, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूं ब्रज खोरी।

उसने भी उत्तर दे दिया—

काहे को हम ब्रजतन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी।
स्रवननि सुनति रहति नंद ढोटा करत रहत माखन की चोरी ॥

उत्तर तो था चुभने वाला ही पर नारियों की न-न में स्वीकृति का आभास पाने वालों की दृष्टि में कृष्ण के लिए यह एक साधारण सी बात थी। परिचय हुआ—बढ़ा और खूब ही फूला-फला।

सूर के शृंगार में मुरली का माधुर्य भी अपना एक मोल रखता है। गोपियों की दृष्टि में यह मुरली सदा खलती ही रही है। हर समय यही दुष्टिनी कन्हैया के ओठों का रसपान करती रहती है। तभी तो मुरली में गोपियों का सौतिया-डाह रहता है। प्रेम के प्रभाव ने गोपियों में मुरली के स्वर की

सजीवता देखी और जी भर-भर कर कोसना आरम्भ कर दिया—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी ! जदपि नंद नंदहि, नाना नाच नचावति।
राखति एक पांव ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भ्रकुटी कुटिल कोप नासापुट हम पर कोप कंपावति॥

यही शृंगार रासलीला में अपनी चरमावस्था को पहुँच गया है। रास संबंधी एक पद में उसका अनुभव किया जा सकता है—

मानो माई घन घन अंतर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि॥
जमुना-पुलिन मल्लिका मनोहर, सरद सुहायी जामिनि।
सुंदर ससि गुन रूप रागनिधि, अंग-अंग अभिरामिनि॥
रच्यौ रास मिलि रसिक राइ सों मुदित भईं ब्रजभामिनि।
रूपनिधान स्यामसुंदर घन आनंद मन विस्रामिनि॥

इसी प्रकार सूर का वियोग-शृंगार भी अति सुंदर रहा है। कृष्ण के मथुरा-प्रवास पर गोपियों में जो विरह-सागर उमड़ा है उसका तो वार-पार ही नहीं मिल पड़ा है। जिस अनुपस्थिति में गोपियाँ रो-रोकर सूख गईं उस अनुपस्थिति में ये वृंदावन के वृक्ष हरे-भरे क्यों हैं ! गोपियाँ उन्हें ही कोसने लग पड़ती हैं।

मधुवन, तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुंदर के, ठाढ़े क्यों न जरे ॥
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे ।
ससा स्यार औ बन के पखेरू, धिक-धिक सबन करे ॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में, काहे न उकठि परे ?

इस प्रकार के अनेक परंपरागत उपालंभ सूर के वियोग-शृङ्गार में मिलेंगे। किमधिकम्, सूर का यह शृङ्गार-संयोग और वियोग, दोनों रूपों में साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा मौलिक और अनुपम रहा है। भले ही उसने प्रभाव कुछ भी उत्पन्न किया हो, परन्तु एक रसिक का बोलता हृदय उसमें अवश्य है।

सूर का भ्रमर-गीत

यूँ तो उपालंभ काव्य के रूप में 'भ्रमरगीत' शृङ्गार का ही एक अंग है, परन्तु सूर के यहाँ इसका एक और ही प्रयोजन रहा है। सूर इसे केवल एक साधारण संवाद द्वारा शृङ्गार-सौंदर्य के लिए नहीं लाये। वस्तुतः बात यह है कि मध्ययुग के संतसाधक प्रभु-दर्शन का एक-मात्र साधन ज्ञान को ही मान बैठे थे। इन ज्ञानाभिमानियों की गति को रोकने के लिए भक्ति को आगे लाना अनिवार्य था। ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भारतीय आध्यात्मिक जगत् की बहुत पुरानी वस्तु है। यूँ तो वल्लभाचार्य ने भी अपने अणुभाष्य में पृथक्-पृथक् ज्ञान और भक्ति दोनों को ही निरर्थक बताया था—

मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तत्भक्तिभावैः देशव्यभिचारभावेष्वेकतरदिति

सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयम् (३-३-३७)।

रहे तो सूर भी इसी मत के और उन्होंने अविगत और अव्यक्त की महिमा भी गाई इसी दृष्टि से, परंतु संत संप्रदाय की ज्ञानधारा में जनसाधारण कहाँ शांति पा सकता था। वस्तुतः ज्ञान मस्तिष्क की वस्तु है और भक्ति हृदय की। इस मस्तिष्क के दाँव-पेचों की गुत्थियों को सुलझा सकना समाज के प्रत्येक प्राणी का काम नहीं। हाँ, हृदय की भावना को विश्वास की तल्लीनता में बाँध सकना उसकी अपेक्षा बहुत सरल है। भक्त अपनी भक्ति पर मोह कर सकता है। ज्ञानमार्गी की तार्किकता उसे बाँधने में असमर्थ ही रह जाती है। तो, कुछ तो इस कारण और कुछ इस कारण कि दक्षिण के अलवारों (शिव-भक्तों) के संपर्क में आये हुए आचार्य भी इससे प्रभाव ग्रहण कर ही रहे थे, यह भक्तिपथ प्रशस्त होता चला गया। यह हम नहीं कहते कि भक्त-कवियों में निर्गुणियों के ज्ञानमहल पर चढ़ने और उसे अवगाहन करने की बुद्धि नहीं थी, और यदि उनमें योग्यता न होती तो निर्गुणियों की रहस्यवाणी के अनुसार ही दृष्टकूट के ढंग की रचना इनके यहाँ न होने पाती, परंतु जनसाधारण का उपकार उन्हें भक्ति-पथ में ही दीख पड़ा। इसलिए साधारण-बुद्धि जनता के लिए भक्ति का पथ ही प्रचारित किया गया।

भागवत में भ्रमरगीत का प्रसंग न काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन पड़ा है और न विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। भागवत में भक्ति का महत्व प्रतिपादन किया जा रहा है, परन्तु

ज्ञान के विरोध में कुछ भी नहीं कहा गया। लेकिन सूर ने इस विषय को जिस रूप से प्रस्तुत किया है, हमारे साहित्य में वह निराले ही ढंग का है। सूर का यह 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सबसे महत्वपूर्ण वाग्वैदग्ध्य-भरा उपालंभ-काव्य है। इस संवाद में तर्क के स्थान पर जो मार्मिकता अपनाई गई है वह अनमोल रही है। ये गीत विप्रलंभ शृङ्गार के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भ्रमरगीत का कथा-उठान उद्धव के ज्ञानाभिमान से होता है। कृष्ण देखते हैं कि उद्धव ज्ञान के अभिमान में उद्धत होते चले जा रहे हैं। उधर व्रज से बुलावे पर बुलावे आ रहे हैं। वे सोचते हैं, चलो ऐसे समय इस ज्ञानिये को ही अपने जी की निकाल लेने दो। उद्धव को सम्मति दी जाती है—जाओ, गोपियों को कह दो कि निर्गुण के ध्यान में लीन हों। सगुणता में क्या धरा है! इस निर्गुण को ज्ञान का प्रतीक समझना चाहिए और सगुण को भक्ति का (सूर ज्ञान और भक्ति के प्रश्न को निर्गुण और सगुण के रूप में ले आते हैं)। उद्धव निर्गुणता की सारी दार्शनिकता ज्ञान के जहाज़ पर लादकर चल पड़ते हैं। उनका रथ आया देखकर व्रज भर की गोपियाँ घेर कर खड़ी हो जाती हैं। वस्तुतः पहले तो उन्हें यही भ्रम हुआ कि इस रथ में कन्हैया आये होंगे, परन्तु निकट पहुँच कर निराश रह गईं। साथ ही कुछ क्रोध भी आया इन रंग के कालों पर, जो रंग के तो काले हैं ही, मन से भी काले ही निकल जाते हैं। उसने कुछ उपदेश दिया और उत्तर में उन्होंने सत्कार किया इन शब्दों में—

विलग जानि मानहु, ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहि ते कारे॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनहूँ माँझ अधिक छवि उपजत, कमलनैन मनियारे॥

उन्हें उत्तर देने की साँस भी न आई कि झट यही संदेह उत्पन्न कर दिया गया कि कहीं उद्धव यहाँ भूल से तो नहीं आ गये। उद्धव, तुम भूलकर तो इधर नहीं आये, यदि कृष्ण ने तुम्हें जान-बूझकर भेजा है तो सचमुच तुम्हें मूर्ख बनाने के लिए ही—

ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने॥
स्याम तुम्हें यहाँ नाहिं पठाये, तुम हो बीच भुलाने।
ब्रज बासिन सों तुम जोग कहत हो, बातहुँ कहत न जाने॥
साँच कहो तुम को अपनी सौं, बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुमहि पठाये तब नेकहुँ मुसकाने॥

बस जान पड़ता है, कृष्ण ने तुम्हें इधर भेजकर तुम्हारे साथ ठट्ठा ही किया है। या शायद तुम उनका संदेश ठीक-ठीक समझ नहीं सके—

ऊधो! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यौ है नंदकुमार॥

पर वे बाज न आये, अपनी ही कहते गये; दूसरों की सुनी ही नहीं। गोपियों को क्रोध आया और लगाई फटकार—

ऊधो! होहु आगे तें न्यारे।
तुम्हें देखि तन अधिक तपत है, अरु आँखिन के तारे।

ऊधो अपनी धुन के पक्के थे, फिर भी न रुके; कहते ही गये अपनी बात। उनकी अप्रिय बातों पर वे फिर खीझ उठीं और बोलीं—

ऊधो! तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डरत, धुनि देखियत नहिं नीकी॥

उद्धव निर्गुण की चर्चा चलाते हैं तो गोपियाँ पूछती हैं—महाशय! इस निर्गुण का पूरा परिचय क्या है, इसके माता-पिता का नाम तो बताइये कृपा करके?

निर्गुण कौन देस को बासी?
मधुकर हँसि समुझाई, सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?
कैसो बरन बेस है कैसो केहि रस में अभिलासी?

उद्धव अपनी बक-बक रोकते नहीं तो उन्हें कहना ही पड़ता है—

सुनि है कथा कौन निर्गुण की रचिपचि बात बनावत।
सगुन-सुमेस प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उद्धव ने बताया कि इस निर्गुण की अभिव्यक्ति के लिए योगसाधन की आवश्यकता है। गोपियाँ बोलीं, हम भोली बालिकाएँ अहीरों की, हमें योग की क्या समझ पड़ेगी—

ऊधो, हम अयान मति भोरी,
जानैं तेइ जोग की बातें, जे हैं नवल किसोरी।
सबतें ऊँचो ज्ञान तुम्हारो, हम अहीरि मति भोरी॥

'योग' को श्लिष्टपद बनाकर जो उत्तर दिया गया उससे उद्धव की क्या गति बनी होगी इसका हमें पता नहीं। पर इतना स्पष्ट है कि इस पद में उन्होंने कृष्ण-वियोग के मर्म-आघात को लज्जा के आवरण में व्यक्त कर ही दिया। तभी तो उन्होंने कहा—

ऊधो जी हमहिं न जोग सिखैये।
जोहि उपदेस मिलै हरि हमको सो व्रत नेम बतैये॥

और फिर, ये—

अखियाँ हरिदरसन की भूखी
कैसे रहैं रूप-रस-रांची, ए बतियाँ सुनि रूखी॥

गोपियों को अपने सगुण-सलोने के सामने निर्गुण बेस्वाद-फीका लगता हैउद्धव का योग भी उन्हें स्वीकार नहीं। वे तो चाहती हैं—अपने मोहन का योग—संयोग। जिस योग की वे चर्चा करते हैं उससे तो उन्हें वियोग ही अच्छा। इस रूप में निर्गुण भित्ति का आधार-स्वरूप ज्ञान उन्हें स्वीकार नहीं हो सका है। यही ज्ञान पर भक्ति की विजय है। इस भक्ति के आधार कृष्ण गुणहीन होकर भी निर्गुण से प्रिय लगे हैं—

ऊधो, कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते अवगुन में, निर्गुन तें अति स्वाद॥

प्रेमी को उसके हृदय के विरुद्ध कुछ न कहा जाय। अपने विरुद्ध उसे प्रत्येक बात घात करती प्रतीत होती है। वियोग-संतप्ता गोपियाँ इसीलिए प्रत्येक बात का उत्तर कटे-जले शब्दों में देती हैं। और अपने मर्म को बाहरी हँसी से ढके रहना तो भारतीय रमणी का एक परंपरा-प्रसिद्ध गुण है ही। फिर जिसे वे चाहती हैं उससे बढ़कर तो संसार में कुछ भी हो नहीं सकता। प्रिय के प्रेम के आगे मुक्ति भी उन्हें स्वीकार नहीं, तो योग लेकर वे क्या करें।

इस अलौकिक विरह-व्यंजना के साथ गोपियों का जो परिहास मिल गया है वह हमारे साहित्य की अनुपम वस्तु रहेगा। सूर सगुण की महत्ता स्थापित करने में किसी दार्शनिकता का रक्षण ग्रहण नहीं करते, बल्कि उनकी मार्मिक मनोमुग्धकारी सरस उक्तियाँ ही प्रस्तुत होती हैं। यही उनके भक्ति-पक्ष की अभिव्यक्ति है।

दृष्टकूट-पद

भारतीय संत-महात्माओं की परंपरा में यह प्रथा बहुत ही बुरे ढंग से चली आई है कि उन्होंने अपने जीवन में जो भी रहस्य प्राप्त किये हैं, उन्हें रहस्य ही बनाकर रख छोड़ा है। उन्होंने किसी भेद से परिचित होकर उसे सरल करके प्रचारित करने की इच्छा कभी भी नहीं की। ये हमारे संतमहात्मा कोई भी भेद उस समय ही खोलते थे जिस समय अपना अंतिम समय निकट जान लेते थे। और वह भी सर्वसाधारण के लिए नहीं अपितु केवल उन्हीं चेले-चांटों के लिए जिन्होंने

कि उनकी बहुत दिनों तक सेवा की हो। शायद करते वे ऐसे ही सेवा कराने के लालच से थे। कई संत-महात्मा तो ऐसे भी होते थे जो उन अमूल्य रहस्यों को अपने साथ ही ले जाते थे और उनकी मृत्यु के पश्चात् न उनका नाम रह जाता था और न महत्व ही। ऐसा करने में असली लालच तो केवल स्त्रियों पर अनुशासन जमाये रखने का ही होता था, परंतु कहने को वे यह भी कहते थे कि इस गूढ़ ज्ञान की प्राप्ति का अधिकार केवल तपोनिष्ठों को ही हो सकता है। ऐसा करने में वह रहस्य अथवा छिपा हुआ ज्ञान कोई अधिकारी ही अपने प्रयत्नों से प्राप्त कर सकता था। इसीलिए ये लोग सीधी-सादी बातों को प्रतीकों, संकेतों तथा पारिभाषिक शब्दों की ओट लेकर प्रकट करते थे। यही सांकेतिकता सिद्ध-संतों की रचना में मिलती है। कबीर के पदों में यही 'उलटबाँसियाँ' बनकर आई हैं और सूर के यहाँ 'दृष्टकूट' का नाम लेकर। यह प्रथा केवल पांडित्य-प्रदर्शनार्थ ही चली होगी और उसी भाव में आज भी चलती आ रही है। यमक, रूपक और श्लेषालंकारों ने इस कार्य में बड़ा सहयोग दिया। और यमक तो मानों इस विषय की पूर्णतया अपनी ही वस्तु बन गया। इसे निम्न पद में अच्छी तरह समझा जा सकता है—

सारंग[1] समकर नीक-नीक सम सारंग[1] सरस बखाने;
सारंग[2] बस भय, भयबस सारंग[2], सारंग बिसमै माने॥

१—हरिन। २—रागविशेष।

सारंग[3] हेरत उर सारंग[4] ते सारंग सुत ढिग आवै।
कुंतीसुत[5] सुभाव चित समुझत सारंग[6] जाइ मिलावै॥
यह अद्‌भुत कहिवे न जोग जुग देखत ही बनि आवै।
सूरदास विच समैं समुझ करि विपई विपै मिलावै॥

इसी प्रकार एक पद में राधा का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

अद्‌भुत एक सुंदर बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुप चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मणिधर नाग॥

यह अद्भुत बाग राधा का सौंदर्य-स्वरूप है। कमला में चरणों की ओर गज-क्रीड़ा में मस्तानी चाल की भावना रमी है। सिंह में राधा की पतली कमर की व्यंजना है। हरि पर सरवर कहकर कटिभाग में स्थित नाभि का संकेत हुआ है। इसी सर पर गिरिवर से तात्पर्य वक्षस्थल की पीनता से लिया गया है। कंजपराग में कुचाग्र-लालिमा की ओर संकेत है। कपोत में कंठ और अमृत फल में मुख की आभा अभिव्यंजित है। पुहुप शब्द चिबुक के लिए तथा पल्लव ओठों के लिए

३—कृष्ण जी। ४—कमल। ५—कुंतीपुत्र कर्ण, यहाँ भाव है कान से। ६—हृदय

प्रयुक्त हुआ है। शुक से नासिका-सौंदर्य प्रदर्शित किया गया है और पिक से स्वर-माधुर्य-भाव। खजन हैं दो आँखें, धनुष दो भौंहें और चंद्रमा मस्तक; फिर मणिधर नाग स्पष्ट है ही वह वेणी जिसके अग्रभाग में सिंदूर भरा है।

इसमें यमक का प्रयोग नहीं किया है बल्कि उपमेय को छिपाकर केवल उपमान के सौंदर्य द्वारा रूपकातिशयोक्ति प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार एक पद में कृष्ण-सौंदर्य प्रस्तुत किया गया है—

गृह ते चली गोप कुमारि।
घरक ठाढ़ो देखि अद्भुत एक अनुपम मार॥
कमल ऊपर सरल कदली कदली पर मृगराज।
सिंध ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससि साज॥
मद्ध ससि के मीन खेलत रूप कांत सुजुक्त।
सूर लखि भई मुदित सुंदर करत आछी उक्ति॥

यहाँ भी चरण हैं कमल, कदली हैं जंघाएँ। मृगराज कहकर सिंह के समान कमर की ओर संकेत किया गया है। सर्प में भुजाओं का संकेत है और ससि में मुख की सुंदरता का। और मीन से स्पष्ट हैं ही—चंचल आँखें।

सूर के पदों की यह सांकेतिकता हमारे साहित्य की कोई नई वस्तु नहीं थी। उसका मूल हमारे साहित्य में अनादि काल से वर्तमान रहा है। संसार के आदिग्रंथ वेद में भी इसी प्रकार के गूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति में यही भावना विद्यमान है। यही परंपरा हमारे साहित्य में आदिकाल से

सारंग[3] हेरत उर सारंग[4] ते सारंग सुत ढिग आवै।
कुंतीसुत[5] सुभाव चित समुझत सारंग[6] जाइ मिलावै॥
यह अद्‌भुत कहिवे न जोग जुग देखत ही वनि आवै।
सूरदास विच समैं समुझ करि विपई विपै मिलावै॥

इसी प्रकार एक पद में राधा का चित्र प्रस्तुत किया गया है—

अद्‌भुत एक सुंदर वाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत वसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृग मद काग।
खंजन धनुप चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मणिधर नाग॥

यह अद्भुत वाग राधा का सौंदर्य-स्वरूप है। कमला में चरणों की ओर गज-क्रीड़ा में मस्तानी चाल की भावना रमी है। सिंह में राधा की पतली कमर की व्यंजना है। हरि पर सरवर कहकर कटिभाग में स्थित नाभि का संकेत हुआ है। इसी सर पर गिरिवर से तात्पर्य वक्षस्थल की पीनता से लिया गया है। कंजपराग में कुचाग्र-लालिमा की ओर संकेत है। कपोत में कंठ और अमृत फल में मुख की आभा अभिव्यंजित है। पुहुप शब्द चिवुक के लिए तथा पल्लव ओठों के लिए

३—कृष्ण जी। ४—कमल। ५—कुंतीपुत्र कर्ण, यहाँ भाव है कान से। ६—हृदय

प्रयुक्त हुआ है। शुक से नासिका-सौंदर्य प्रदर्शित किया गया है और पिक से स्वर-माधुर्य-भाव। खजन हैं दो आँखें, धनुप दो भौंहें और चंद्रमा मस्तक; फिर मणिधर नाग स्पष्ट है ही वह वेणी जिसके अग्रभाग में सिंदूर भरा है।

इसमें यमक का प्रयोग नहीं किया है बल्कि उपमेय को छिपाकर केवल उपमान के सौंदर्य द्वारा रूपकातिशयोक्ति प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार एक पद में कृष्ण-सौंदर्य प्रस्तुत किया गया है—

गृह ते चली गोप कुमारि।
परक ठाढो देखि अद्‌भुत एक अनुपम मार॥
कमल ऊपर सरल कदली कदली पर मृगराज।
सिंध ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससि साज॥
मद्ध ससि के मीन खेलत रूप कांत सुजुक्त।
सूर लखि भई मुदित सुंदर करत आछी उक्ति॥

यहाँ भी चरण हैं कमल, कदली हैं जंघाएँ। मृगराज कहकर सिंह के समान कमर की ओर संकेत किया गया है। सर्प में भुजाओं का संकेत है और ससि में मुख की सुंदरता का। और मीन से स्पष्ट हैं ही—चंचल आँखें।

सूर के पदों की यह सांकेतिकता हमारे साहित्य की कोई नई वस्तु नहीं थी। उसका मूल हमारे साहित्य में अनादि काल से वर्तमान रहा है। संसार के आदिग्रंथ वेद में भी इसी प्रकार के गूढ़ अर्थों की अभिव्यक्ति में यही भावना विद्यमान है। यही परंपरा हमारे साहित्य में आदिकाल से

आई थी। दृष्टकूट का अभिप्राय है—कठिन प्रश्न अथवा पहेली। सो आदि-प्रसिद्ध मुस्लिम कवि खुसरो की पहेलियों और कह-मुकरियों में भी यही वस्तु रही है। रसिक कवि विद्यापति ने भी इस प्रकार के प्रयोग किये ही हैं। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि सूर पर भी विद्यापति की ही कूटवाणी का प्रभाव रहा है। कुछ भी हो, सूर के दृष्टकूटों में अपनी योग्यता का अभाव तो है ही नहीं। निर्गुणिये कबीर की रहस्य-वाणी में भी इसी छलवाणी का प्रयोग हुआ है। अपनी उलट-वाँसियों में तो कबीर इतने जटिल हो गये हैं कि लोग उनका ठीक-ठीक अर्थ न निकाल सकने पर उन्हें व्यर्थ की ऊटपटांग रचना ही कहने लग पड़े हैं। कुछ भी सही, इस प्रकार की रचना में हमारे साधकों ने अपनी साधना की अमूल्य निधियाँ अवश्य ही छिपाकर रखी थीं। भले ही उन्होंने अनुभूत ज्ञान को सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं होने दिया, परन्तु यह भी उचित ही रहा; क्योंकि ऐसा होने से इस गूढ़ ज्ञान को खोजिया ही प्राप्त कर सकने का अधिकारी हो सका। जिसे लगन लगेगी वह पा लेगा। जिसमें सच्ची तल्लीनता का अभाव होगा वह इन अनमोल मणियों का स्पर्श करके इन्हें अपवित्र नहीं कर पायेगा।

इसके अतिरिक्त ये रूपक साधकों के अपने मनों को भी खूब रिझाते रहे होंगे। उनकी अपनी दृष्टि किस वस्तु को किस रूप में देख पाती रही होगी, इसमें उनकी अनुभूतियाँ और योग्यता की पहुँच कितना चमत्कार रखती होगी, यह सब उनकी

सांकेतिकता से स्पष्ट हो जाता है। उनकी रचना में प्रयोग हुए उपमानों के रूप में आये हुए संकेत केवल काव्य-परंपरा में आये उपमान ही नहीं थे, ये तो उनकी अपनी चमत्कार-पूर्ण बुद्धि का ही प्रकाशन था—और इसी में उनके महत्त्व का ममत्त्व रखा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर कृष्णकाव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। केवल तुलसी को छोड़कर हमारे साहित्यभर में उनका स्थान सबसे ऊँचा है और नये प्रसंगों की सृष्टि करने में तो वे तुलसी से भी आगे हो गये हैं। भले ही सूर का काव्यक्षेत्र तुलसी की भाँति व्यापक नहीं था, परंतु फिर भी जिस परिमित क्षेत्र में उसने अपनी वाणी का प्रेमामृत बहाया उसमें उसका कोई कोना सूना नहीं रहा। भक्ति के क्षेत्र में सूर का शृंगार और वात्सल्य अनूठे ही हैं, बल्कि वात्सल्य का तो उन्हें अवतार ही कहना चाहिए। सूर के अतिरिक्त अन्य सभी कवियों का वात्सल्य तो सूर का उच्छिष्ट-मात्र ही प्रतीत होता है। अपने भ्रमरगीतों में उन्होंने अपने प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रमाण दिया है और अपने दृष्टकूटों में रहस्यमयी साधना के अधिकारी होने का।

वात्सल्य, शृंगार, भ्रमरगीत और दृष्टकूटों के अतिरिक्त उनका शांतरस और प्रकृतिवर्णन भी अच्छा रहा है। शांतरस भक्ति का आधार है और इस प्रकार वह उनकी वात्सल्य-भाव की भक्ति का अंग हो जाता है तथा प्रकृति-चित्रण को शृंगार के उद्दीपन-विभाव का रूप प्राप्त हो जाता है। इस रूप में

इन वस्तुओं को हमने पृथक्-पृथक् स्थान न देकर अपने विषय को संक्षेप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

इस अवस्था में हम सूर को कृष्ण-काव्य-धारा का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। कृष्ण-भक्ति-धारा में आगे चलकर आने वाले कवियों में ऐसी कौनसी बात है जो उनमें न आ पाई हो। इसीलिए तो उनके किसी आलोचक ने कहा था कि—

तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूंठि॥

सचमुच सूर ने पते की कही है—उसने तत्त्व की ही कही है।

जयशंकर प्रसाद

राजेन्द्रसिंह गौड़

प्रसाद की रचनाएँ—

प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के निष्णात पंडित और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। अपने अल्पकालीन साहित्यिक जीवन में उन्होंने जो कुछ लिखा, उस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है और वह उसकी स्थायी सम्पत्ति है। क्रमिक विकास के अनुसार हम उनकी समस्त रचनाओं को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१. पूर्वकाल [सन् १६१०-२२] २. मध्य-काल [सन् १६२३-१६२६] और ३. अन्तिम काल [सन् १६२६-३७]

प्रसाद जी ने अपने साहित्यिक जीवन के पूर्वकाल में विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु, झरना, प्रतिध्वनि, छाया, प्रेम-पथिक, महाराणा का महत्त्व तथा चित्राधार; मध्य-काल में स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, कामना, आकाशदीप, आँसू, कंकाल और एक घूँट और अन्त में आँधी, तितली, ध्रुवस्वामिनी, इन्द्रजाल, लहर, कामायनी, काव्य और कला तथा अधूरा उपन्यास 'इरावती' की रचना की। इस प्रकार उनके साहित्यिक जीवन का मध्य तथा अन्तिम काल ही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रसाद जी की रचनाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार से हो सकता है:—

१. उपन्यास—कंकाल, तितली और अधूरा इरावती।

२. नाटक—राज्यश्री, अजातशत्रु, स्कन्धगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी।

३. कहानी-संग्रह—छाया, प्रतिध्वनि, आकाशदीप, आँधी और इन्द्र-जाल।

४. काव्य—चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, झरना।

५. निबन्ध—काव्य और कला।

प्रसाद पर प्रभाव—

प्रसाद जी की बहु-अंगी रचनाओं को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें साहित्य-सृजन की प्रेरणा कई क्षेत्रों से प्राप्त हुई थी। उनके पारिवारिक जीवन के अध्ययन से यह पता चला है कि वह बचपन ही से कवियों, कलाविदों और गायकों के सम्पर्क में आ गये थे। उनके दादा दानी तो थे ही, साहित्य-प्रेमी भी थे। उनके यहाँ साहित्य-प्रेमियों का आये दिन जमघट रहता था। उनके पिता भी अपने पिता की भाँति ही उदार, दानी और साहित्य-प्रेमी थे। उनके समय में भी साहित्यिकों का आना-जाना होता था। ऐसे वातावरण का बालक प्रसाद पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अतः पद्य-रचना की ओर उनकी रुचि बढ़ी। इस रुचि को उनकी धार्मिक यात्रा से बहुत बल मिला। अपने जीवन के प्रभात-काल में अमर कण्टक पर्वतमालाओं के बीच उन्होंने जो यात्रा की उसने उनकी कल्पना के पंख उन्मुक्त कर

दिये और वह काव्यलोक में स्वतंत्रतापूर्वक विचरने लगे। आधी-आधी रात तक कवि-गोष्ठियों में बैठकर समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों की कविता सुनना और फिर उसे मन में गुनगुनाना उनका स्वभाव-सा हो गया। उनका यही स्वभाव कालान्तर में विकसित होकर उन्हें कवि बनाने में सफल हुआ।

पर कविता सुनने और उसे अपने जीवन के सुखद क्षणों में गुनगुनाने से ही कोई कवि नहीं हो जाता। कवि होने के लिए सहज प्रतिभा, अध्ययन और अभ्यास की भी आवश्यकता होती है। बालक प्रसाद में प्रतिभा तो थी, पर अध्ययन और अभ्यास का अभाव था। इस दिशा में उन्हें प्रेरणा मिली ब्रह्मचारी दीनबन्धु जी से। पिता की असामयिक मृत्यु से जब उन्हें स्कूली शिक्षा को तिलाञ्जलि देनी पड़ी तब पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी ने ही उन्हें संस्कृत तथा उपनिषद् पढ़ाने का भार अपने ऊपर लिया। वे अपने समय के संस्कृत-साहित्य के निष्णात पंडित थे। अतः उनकी शिक्षा का बालक प्रसाद के कोमल मस्तिष्क पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्रसाद में हम जो संस्कृत-साहित्य के प्रति आस्था पाते हैं, वह केवल इसी कारण से है। वास्तव में उनका संस्कृति-साहित्य-सम्बन्धी ज्ञान ब्रह्मचारी जी की देन है जिसे उन्होंने अपनी यौवनावस्था में स्वयं परिपक्व बनाया है। इसी प्रकार के अध्ययन, चिन्तन और अभ्यास के आलोक में उनके कवि-जीवन का महत्त्व आँका जा सकता है। उनकी कविताओं से यह स्पष्ट है कि उनके जीवन पर बौद्ध-दर्शन तथा संस्कृति के धार्मिक ग्रन्थों का प्रचुर

प्रभाव पड़ा है। उनका कुटुम्ब शैव था। उन्होंने शैव-दर्शन का भी गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था। उनके जीवन में जो स्फूर्ति और संसार के प्रति जो उत्फुल्लता का भाव हम देखते हैं वह इसी शैव-दर्शन के प्रभाव के कारण। अतः उनकी रचनाओं की आलोचना करते समय हमें उनके जीवन पर पड़े हुए इन समस्त प्रभावों को ध्यान में रखना चाहिए।

प्रसाद का उपन्यास-साहित्य—

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक उपन्यासकारों में प्रसाद जी का स्थान प्रमुख है। उन्होंने ऐसे समय में उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया जब हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रेमचन्द के अतिरिक्त कोई नहीं था। प्रेमचन्द हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के अग्रदूत थे। उन्होंने सर्वप्रथम आधुनिक चरित्र-प्रधान हिन्दी-उपन्यासों का ढाँचा खड़ा किया और उनमें मानव के सुख-दुःख की पहेलियों, सामाजिक जटिलताओं और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का स्पष्ट आकर्षक चित्र उपस्थित किया। प्रेमचन्द के पूर्व का भारतीय कथा-साहित्य पौराणिक तथा धार्मिक था। कुछ ऐसे उपन्यास भी जनता के हाथों में दिखाई देते थे जिनमें साहसिक क्रियाओं का वर्णन ही कथा का मुख्य उद्देश्य माना जाता था। प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथा-साहित्य के इस रूप में परिवर्तन किया। उन्होंने अपने उपन्यासों में साहसिक क्रियाओं के स्थान पर आत्मा को आश्रय दिया। इस प्रकार उन्होंने जासूसी, तिलिस्मी तथा घटना-प्रधान पौराणिक उपन्यासों के युग में चरित्र-प्रधान उपन्यासों का आयोजन किया।

प्रसाद जी प्रेमचन्द के समकालीन थे। इसलिए प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में प्रसाद जी का ही स्थान है। उन्होंने तीन उपन्यासों की रचना की है—१. कंकाल, २. तितली और ३. इरावती।

प्रसाद जी के इन उपन्यासों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता उनके उपन्यासों की है—कथानक की मौलिकता और पात्रों की स्पष्टवादिता। उनके कथानक का मानव-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। उनमें मानव-जीवन के पाप-पुण्य की चर्चा इतने स्वतंत्र ढंग से और इतने खुले शब्दों में की गई है कि समाज को पतितों के प्रति सहानुभूति प्रकट करने का साहस होता है। उन्होंने अपने इन कथानकों द्वारा हिन्दी-उपन्यास-साहित्य को आश्चर्यजनक घटनाओं के दलदल से निकालकर उच्च भाव-भूमि पर उतारा है और भावी उपन्यास-लेखकों के लिए नवीन दिशा का पथ-प्रदर्शन किया है। उनके सभी पात्र सजीव और स्पष्टवक्ता हैं। वे अपने हृदय का पाप-पुण्य किसी से छिपाकर घृणा और द्वेष के पात्र नहीं बनते। उनके प्रति पाठक की सहज सहानुभूति जागृत होती है। दूसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है—मानसिक द्वन्द्व के सुन्दर शब्दचित्र। समाज के बन्धनों से उन्मुक्त मानव हृदय का चित्र उतारने में प्रसाद जी बड़े कुशल हैं। मनोभावों के द्वन्द्व का हृदय पर ही नहीं, शारीरिक व्यापारों पर भी सम्यक् प्रभाव पड़ता है। इसलिए मनोभावों का चित्र उपस्थित करने के साथ-साथ उनके उपन्यासों में हमें शारीरिक व्यापारों के भी सुन्दर और

प्रभावशाली चित्र बहुतायत से मिलते हैं। तीसरी विशेषता उनके उपन्यासों की है—उनका दृश्य-वर्णन। वे अपने उपन्यासों में प्रकृति, ग्राम, नगर और समाज सबके सम्यक् चित्र उपस्थित करते हैं और उनसे अपने पाठकों को इतना प्रभावित कर देते हैं कि उनका हृदय उपन्यास के कथानक से क्षण भर के लिए हटने नहीं पाता। 'कंकाल' और 'तितली' में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं है। चौथी विशेषता जिसके कारण प्रसाद उपन्यास-कार समझे और माने जाते हैं उनकी भाव-प्रवणता है। भावों को जगाने में, उनको आन्दोलित, संयत और सफल बनाने में वे अपने उपन्यास और काव्य में एक से हैं और इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने अनुभवों के प्रचुर वैभव के साथ अपनी कोमल भावनाओं का सहज मिश्रण करके कल्पना के सहारे जिन कला-कृतियों को जन्म दिया है वे हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। पाँचवीं विशेषता उनके उपन्यासों की है—भाषा की सरलता। अपने उपन्यासों में प्रसाद जी अपने नाटकों की अपेक्षा अधिक चलती हुई, बोधगम्य, सरल, मुहावरेदार, प्रसाद और ओजपूर्ण भाषा का व्यवहार करते हैं। नाटकों में उनकी भाषा अधिक क्लिष्ट और बोझिल हो गई है। इसलिए कला की दृष्टि से परिपूर्ण होने पर भी वे पाठकों को अपने में इतना तन्मय नहीं कर पाते जितना कि उनके उपन्यास। इन विशेषताओं के अतिरिक्त चित्रमय सूक्तियों का प्रयोग, आधुनिक मानव-जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का प्रतिबिम्ब, कला और प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता सम्बन्धी विचार आदि बहुत सी

ऐसी बातें हैं जिनका प्रसाद के उपन्यासों में बाहुल्य है। उनके उपन्यास उन्मुक्त यौवन के प्रणय की समस्याओं के उपन्यास हैं।

प्रसाद का कहानी-साहित्य—

उपन्यासों के अतिरिक्त प्रसाद जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी के कहानीकारों में उनका प्रथम स्थान है। उन्होंने तीन प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कुछ कहानियाँ साधारणतः भावात्मक और कला की दृष्टि से निम्न-कोटि की हैं, पर उनकी जो कहानियाँ रहस्यवादात्मक तथा यथार्थ-वादात्मक हैं वह हिन्दी में अपना एक निजी महत्त्व रखती हैं। अपनी यथार्थवादी कहानियों में साधारण कोटि के पात्रों के प्रति गुप्त रूप से वह अपनी सहानुभूति का परिचय बराबर देते रहते हैं। यही यथार्थवादी साहित्य का सिद्धान्त है। प्रसाद अपने यथार्थवादी साहित्य में स्पष्ट हैं। उन्होंने कहानी-कला को बहुत ऊँचे स्थान पर उठाया है। उनकी कहानियों में हमें प्रथम बार आधुनिक कहानी-लेखन-कला का परिचय मिलता है। उनकी कहानियों का कथानक, उनकी कविता के विषय की भाँति, एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र, किसी घटना की एक रेखा, प्रेम की एक झलक अथवा निष्ठुरता की ओर एक संकेत मात्र रहता है। यही उनकी कहानी के विषय हैं। इन विषयों के लिए उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ा, इधर-उधर से सामग्री एकत्र करने की आवश्यकता नहीं हुई। उनके मन में भावनाएँ उठीं और उन्होंने कहानी लिख डाली। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहा-नियाँ भावात्मक हैं और सरलतापूर्वक कहानी-कला की कसौटी

पर नहीं कसी जा सकतीं। एक बात और है, भावात्मक कहानियों का कोई उद्देश्य विशेष नहीं होता। वे प्रचार अथवा प्रशंसा की दृष्टि से नहीं लिखी जातीं। वे तो कहानी-लेखक की तन्मयता की प्रकाशन-मात्र होती हैं। वे जो कुछ लिखता है, अपनी धुन में, अपने भावों से प्रभावित होकर लिखता है। प्रसाद जी इसी वर्ग के कहानी-लेखक हैं। उनकी कहानियों में राग-विराग का, सुख-दुःख का जो अन्तर्द्वन्द्व है वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ आलोचकों का यह कहना है कि प्रसाद जी की अधिकांश कहानियों में अस्वाभाविकता है। ऐसा कहनेवालों को यह स्मरण रखना चाहिए कि उनकी कहानियों के कथानक का विकास किसी रहस्य की छाया में होता है। अतएव उनकी कहानियों के सम्बन्ध में स्वाभाविकता अथवा अस्वाभाविकता का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी कहानियाँ स्थूल जगत् में सम्बन्ध न रखकर भाव-जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वे कहानीकार के साथ ही कवि भी हैं, पर अपनी कहानियों में वे सर्वथा भावात्मक चित्र ही प्रस्तुत नहीं करते। उन्होंने वास्तविक चित्र भी उतारे हैं और बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं। वे अपनी प्रांजल भाषा, अद्भुत व्यंजनकुशलता और भावों की तीव्रता से सहज ही पाठक को अपनी ओर खींच लेते हैं और उसे अनुभव नहीं होने देते कि कोई कहानी कह रहा है। इसी में कहानी-कला की सफलता का रहस्य है और इस दृष्टि से प्रसाद जी आधुनिक हिन्दी-कहानी-साहित्य के अग्रदूत हैं। उनकी कहानियों में निश्छल यौवन, करुण प्रणय और दर्दीली स्मृति के चित्र

भिन्न-भिन्न प्रकार से चित्रित होते रहते हैं। इन्हीं चित्रों के साथ-साथ कुछ सूक्ष्म मानवी मनोवृत्तियों की एक क्षीण, पतली-सी रहस्यपूर्ण रेखा भी अंकित कर दी जाती है। उनकी सभी कहानियों का 'थीम' प्रायः एक-सा है, केवल स्थान और पात्रों के नाम में अन्तर है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी कहानियाँ एकांकी नाटकों की भाँति एकांगी होती हैं, जिनमें एक मनोवृत्ति, हृदय का एक चित्र अथवा घटना की एक क्षीण रेखा होती है। इसीलिए हमें उनकी कहानियाँ पढ़ते समय गद्य-काव्य का सा आनन्द मिलता है।

प्रसाद और प्रेमचन्द—

प्रसाद और प्रेमचन्द दोनों अपने समय के महान् कलाकार हैं। प्रेमचन्द कहानीकार, उपन्यासकार और नाटककार हैं। साहित्य के विभिन्न अंगों पर उन्होंने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं। प्रसाद, प्रेमचन्द की भाँति, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और निबन्ध-लेखक तो हैं ही, कवि भी हैं। प्रसाद स्पष्टतः दो ही रूपों में हमारे सामने आते हैं—कवि के रूप में और नाटककार के रूप में। उनका औपन्यासिक रूप इन दोनों रूपों के सामने गौण हो जाता है, पर प्रेमचन्द का एक ही रूप है और वह है उनका औपन्यासिक रूप। अपने इस रूप में वे प्रसाद की अपेक्षा महान् और अग्रगण्य हैं। उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रसाद उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं, दर्जनों कहानी-संग्रह प्रकाशित कराये हैं; पर प्रसाद का साहित्य इस दिशा में इतना विस्तृत नहीं है।

प्रसाद और प्रेमचन्द की साहित्यिक रचनाओं की संख्या एवं मात्रा में अन्तर तो है ही, उनके दृष्टिकोण, उनकी शैली तथा उनके प्लाट में भी अन्तर है। उपन्यासकार और कहानी-लेखक दोनों हैं, पर दोनों अपने-अपने पात्रों को अपने-अपने उपन्यासों तथा कहानियों में अपने ढंग से, अपने दृष्टिकोण के अनुसार उपस्थित करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों कलाकारों को भारत के विकृत सामाजिक आचार-विचारों के प्रति उत्कट असन्तोष है, पर उस असन्तोष को प्रकट करने का, उसे अपने पाठकों के सामने उपस्थित करने का ढंग पृथक्-पृथक् है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में भारतीय समाज की जिन समस्याओं का चित्र उपस्थित किया है वह स्पष्ट है, सबकी आँखों के सामने है, पर इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी समस्याएँ हैं जो भारतीय समाज को भीतर से खोखला बनाती जा रही हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में इसी प्रकार की समस्याओं को स्थान दिया है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रेमचन्द ने जिस समाज को ऊपर से देखा है, प्रसाद की पहुँच उसके भीतर है। यही कारण है कि प्रेमचन्द जहाँ अपने उपन्यासों में किसानों की दयनीय स्थिति, सामाजिक विषमता तथा आर्थिक समस्याओं का चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ प्रसाद अपने उपन्यासों में इन समस्त समस्याओं की आड़ में होनेवाले पापाचार का चित्र उपस्थित करते हैं। यदि आप 'कंकाल' के कथानक पर विचार करें तो स्पष्ट ही पता चलेगा कि प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में धार्मिक पृष्ठभूमि पर भारतीय समाज के ऐसे ही

नग्न चित्र उतारे हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के चित्रों का अभाव है। प्रसाद की औपन्यासिक कला का विकास पतितों को उठाने में, घृणित पात्रों को अपनाने में हुआ है। इसलिए उनके उपन्यास यथार्थवादी हैं। प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में कहीं आदर्शवादी और कहीं यथार्थवादी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वह यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों के मोह में पड़कर अपने उपन्यासों में बराबर भटकते से रहे हैं।

कथावस्तु की इस प्रकार की विभिन्नता के साथ-साथ इन दोनों कलाकारों के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'तितली' प्रसाद का दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास पर प्रेमचन्द की समस्याओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में प्रेमचन्द के प्रायः सभी प्रिय पक्षों का समाहार कर दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस एक उपन्यास में ही वह भारतीय वातावरण के अधिक से अधिक चित्र अंकित करने के प्रयास में संलग्न रहे। यही कारण है कि उनके इस उपन्यास में कथानक की बहुलता हो गई है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक की बहुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ प्रसाद ने अपने कथानक की बहुलता का निर्वाह कलात्मक ढंग से किया है, वहाँ प्रेमचन्द के कथानक कुछ शिथिल और अस्वाभाविक से हो गये हैं। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि' में कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें अनावश्यक कलेवर-वृद्धि की गई है। प्रसाद के कथानक में

निरर्थक भरती की प्रवृत्ति नहीं है। वह उतना ही कहते हैं जितना उन्हें कहना चाहिए। इसीलिए उनके कथानक का उत्थान, विकास और उसकी समाप्ति सभी बड़े क्रमिक और कलात्मक ढंग से होते हैं। इने-गिने स्थलों को छोड़कर उनके कथानकों में सामंजस्य का अभाव कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अब दोनों कलाकारों के उपन्यासों की पात्र-कल्पना पर विचार कीजिए। प्रसाद के उपन्यासों के पात्र बड़े समाज से—समृद्धशाली समाज से सम्बन्ध रखते हैं। प्रेमचन्द के पात्र प्रायः ग्रामीण समाज से लिये गये हैं। पर पात्रों के चरित्र की जैसी गहन विवेचना हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलती है वैसी प्रसाद के उपन्यासों में नहीं है। प्रसाद ने अपने पात्रों को प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा विकास-स्वातन्त्र्य अधिक दिया है। इसलिए प्रसाद के कुछ पात्र अपेक्षाकृत अधिक अस्वाभाविक और काल्पनिक हो गए हैं। 'तितली' के प्रायः सभी प्रमुख पात्र अधिक भावुक हैं। इस प्रकार की भावुकता प्रेमचन्द के पात्रों में नहीं है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि प्रसाद स्वयं दार्शनिक और भावुक हैं। इसीलिए वे अपने पात्रों को भी अपने ही रंग में रंगकर उपस्थित करते हैं। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि प्रसाद के पात्र व्यक्ति होते हैं। वे किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते। प्रेमचन्द के पात्र किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण प्रेमचन्द को अपने उपन्यासों में सफलता मिली है। इस दृष्टि से [illegible] जो उन्होंने [illegible] पात्रों की

कल्पना की है, वहाँ उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है। प्रसाद इस दिशा में सफल हुए हैं। वह वर्गों का प्रतिनिधित्व करनेवाले पात्रों का निर्माण सफलतापूर्वक नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि प्रसाद के पात्र प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और मनमौजी हैं।

यह तो हुआ उपन्यास-साहित्य के क्षेत्र में दोनों कलाकारों के दृष्टिकोणों का अन्तर। कहानी-साहित्य के क्षेत्र में हमें उनके व्यक्तिगत दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ प्रायः घटना-प्रधान होती हैं और प्रसाद की भावना-प्रधान। प्रेमचन्द अपनी कहानियों में सामाजिक चित्र की अवतारणा का लक्ष्य रखते हैं और प्रसाद अपनी कहानियों में मानसिक चित्र की उद्भावना करते हैं। इस प्रकार एक में वस्तु-कला है तो दूसरे में ललित कला। टाल्स्टाय और तुर्गनेव की कहानी-कला में जो अन्तर है वही अन्तर प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानी-कला में पाया जाता है। टाल्स्टाय की कहानियाँ जनता की कहानियाँ होती हैं, उसके दुःख-सुख की, उसके समस्याओं की कहानियाँ होती हैं, पर तुर्गनेव की कहानियाँ शुद्ध साहित्यिक होती हैं। इस प्रकार यदि प्रेमचन्द हिन्दी के टाल्स्टाय हैं तो प्रसाद हिन्दी के तुर्गनेव।

शैली की दृष्टि से प्रसाद, प्रेमचन्द की अपेक्षा, अधिक गंभीर हैं। प्रसाद की शैली पर कवित्त्व का पुट अधिक है। प्रेमचन्द की शैली स्पष्ट और सीधी-सादी होती है। दार्शनिकता एवं भावुकता के बाहुल्य से प्रसाद की शैली कहीं-कहीं ऐसी रहस्य-

पूर्ण हो जाती है कि पाठक विचारमग्न हो जाता है। इससे पाठकों के आनन्द में बाधा पड़ जाती है, पर प्रेमचन्द की शैली इस दोष से मुक्त है। वाक्य-विन्यास और शब्द-चयन दोनों कलाकारों का प्रभावपूर्ण और संयत होता है। पर जहाँ प्रसाद की भाषा अपनी क्लिष्टता के कारण दुरूह हो जाती है, वहाँ प्रेमचन्द की भाषा अपनी सरलता के कारण पाठक के हृदय को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। शैली-सम्बन्धी इस प्रकार के अन्तर के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी हैं और प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा अधिक आदर्शवादी। दोनों कलाकारों के इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के कारण उनके पात्र भी कथोपकथन में एक ही शैली से काम नहीं लेते। प्रेमचन्द के आदर्शवादी पात्र जहाँ उपदेशक बन बैठते हैं वहाँ प्रसाद के यथार्थवादी पात्र गंभीर, स्पष्ट और थोड़े में बहुत कहने वाले होते हैं। प्रसाद अपनी कृतियों में आदर्शवाद की ओर संकेत करते हैं और प्रेमचन्द उसका प्रचार करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद और प्रेमचन्द अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी कला के निष्णात पंडित हैं। दोनों अपने-अपने में महान हैं। मानवता से दोनों को प्रेम है, दोनों भारतीय समाज की विकृत अवस्था से परिचित हैं और उसका सुधार चाहते हैं। दोनों मानव-मंगल के लिए समाज की मांग और आवश्यकताओं के अनुकूल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए दोनों ने अपनी

स्वतंत्र बुद्धि से विचार किया है, सोचा है और उसे जनता के सामने अपनी-अपनी शैली में उपस्थित किया है।

प्रसाद का नाट्य-साहित्य

प्रसाद उपन्यासकार ही नहीं, नाटककार भी हैं। उपन्यासकार की अपेक्षा वह हिन्दी-साहित्य-मनीषियों के बीच नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन्हीं का सर्वोच्च स्थान है। उन्होंने अपने जीवन-काल में बारह नाटकों की रचना की है जिनका क्रम निम्न प्रकार हैः—

१. सज्जन—१६१० ई०	२. करुणालय—१६१२ ई०
३. प्रायश्चित—१६१३ ई०	४. राज्यश्री—१६१४ ई०
५. विशाख—१६२१ ई०	६. अजातशत्रु—१६२२ ई०
७. जनमेजय का नाग-यज्ञ १६२६ ई०	८. कामना—१६२७ ई०
६. चन्द्रगुप्त—१६२८ ई०	१०. स्कन्धगुप्त—१६२८ ई०
१. एक घूँट—१६२६ इ०	१२. ध्रुवस्वामिनी–१६३२

प्रसाद के इन नाटकों के रचनाकाल से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रथम चार नाटक लिखने के पश्चात् सात वर्ष तक कोई नाटक नहीं लिखा। इसी प्रकार 'विशाख' तथा 'अजातशत्रु' के पश्चात् चार वर्ष के लिए उन्होंने पुनः नाटक-रचना से अवकाश ग्रहण किया। अन्त में उन्होंने छः नाटक लिखे। इन नाटकों में से 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' चित्राधार नामक संग्रह में संकलित हैं; 'करुणालय' गीत-नाट्य है; 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्र', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' ऐतिहासिक नाटक हैं;

'कामना' रूपक है, 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' पौराणिक नाटक है और 'एक घूँट' में संकेतवाद की प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों की रचना में प्रसाद की प्रतिभा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है, पर उनके प्रथम और अन्तिम नाटकों में इतना अन्तर हो गया है कि उसके आधार पर उनके नाटकों के सम्बन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनाई जा सकती। वास्तव में उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है। कलात्मक प्रयास अभ्यास की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों में कलात्मक प्रयास के साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। 'विशाख' के पश्चात धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और विचार-पद्धति विकसित और परिपक्व होती चली जाती है। उनके नाट्य-साहित्य की यह विशेषता अपने में महान् है।

प्रसाद के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कल्पना के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज शेक्सपियर अथवा कालिदास के नाटकों का विश्व-साहित्य में जो स्थान है वह इसलिए नहीं कि वे मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, अपितु इसलिए कि युग-युग से लोग उनको पढ़ते और आनन्द लाभ करते आते हैं। इसलिए आधुनिक वैज्ञानिक युग में जीवन और जगत के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य प्रमुख अंगों के साथ नाटक को भी अपनी [illegible] बना लिया है। इसमें

सन्देह नहीं कि उनके नाटक अभिनयशील नहीं हैं, पर कला और काव्य की दृष्टि से वह अपने में बेजोड़ हैं। उनकी नाट्य-कला परखने के लिए हमें निम्न बातों पर विचार करना होगा :—

१. कथावस्तु—प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री तीन प्रकार की है—१. ऐतिहासिक, २. पौराणिक और ३. भावात्मक। उन्होंने अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति और वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमलतम भावनाओं से अनुरंजित किया है। उन्होंने अपने नाटकों में जो गड़े मुर्दे उखाड़े हैं वे आज की समस्याएँ लेकर नवीन हो गये हैं। उनका शरीर पुराना है, भाव नये हैं। पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गई है जिसके नशे से आज का साहित्य-प्रेमी झूम जाता है। उनके नाटकों में भावों और विचारों की इतनी सबल प्रेरणा है कि उसके सामने कथावस्तु गौण बन जाता है। वास्तव में कथा-वस्तु उनके भावों तथा विचारों का माध्यम मात्र है। इसलिए हमें उनके नाटकों में यह देखने की आवश्यकता है कि उनके पात्र क्या कहते हैं। कौन कहता है, इसकी चिन्ता और छान-बीन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों द्वारा इतिहास की शुष्क इतिवृत्ता-त्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ

'कामना' रूपक है 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' पौराणिक नाटक है और 'एक घूँट' से संकेतवाद की प्रवृत्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटकों की रचना में प्रसाद की प्रतिभा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर मिला है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के नाटक लिखने का प्रयास किया है, पर उनके प्रथम और अन्तिम नाटकों में इतना अन्तर हो गया है कि उसके आधार पर उनके नाटकों के सम्बन्ध में कोई सामान्य धारणा नहीं बनाई जा सकती। वास्तव में उनके नाटकों में कलात्मक प्रयास है। कलात्मक प्रयास अभ्यास की अपेक्षा करता है। प्रसाद के नाटकों में कलात्मक प्रयास के साथ-साथ अभ्यास के चिह्न भी मिलते जाते हैं। 'विशाख' के पश्चात् धीरे-धीरे उनकी एक ही प्रकार की शैली और विचार-पद्धति विकसित और परिपक्व होती चली जाती है। उनके नाट्य-साहित्य की यह विशेषता अपने में महान् है।

प्रसाद के नाटक उन्हीं नाटकों की श्रेणी में आते हैं जो अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। आज शेक्सपियर अथवा कालिदास के नाटकों का विश्व-साहित्य में जो मान है वह इसलिए नहीं कि वे मंच पर सफलतापूर्वक खेले जा सकते हैं, अपितु इसलिए कि युग-युग से लोग उनकी कविता पढ़ते और आनन्द लाभ करते आये हैं। इसलिए आधुनिक रोमांटिक युग में यौवन और प्रणय के कवि प्रसाद ने साहित्य के अन्य प्रमुख अंगों के साथ नाटक को भी अपने भावों को व्यक्त करने का एक माध्यम बना लिया है। इसमें

सन्देह नहीं कि उनके नाटक अभिनयशील नहीं हैं, पर कला और काव्य की दृष्टि से वह अपने में वेजोड़ हैं। उनकी नाट्य-कला परखने के लिए हमें निम्न वातों पर विचार करना होगा :—

१. कथावस्तु—प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री तीन प्रकार की है—१. ऐतिहासिक, २. पौराणिक और ३. भावात्मक। उन्होंने अपने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों में प्राचीन संस्कृति और वैभव का नवीन स्वप्न देखा है और उसे अपनी कोमलतम भावनाओं से अनुरंजित किया है। उन्होंने अपने नाटकों में जो गड़े मुर्दे उखाड़े हैं वे आज की समस्याएँ लेकर नवीन हो गये हैं। उनका शरीर पुराना है, भाव नये हैं। पुरानी बोतलों में नई रंगीन मदिरा भरी गई है जिसके नशे से आज का साहित्य-प्रेमी झूम जाता है। उनके नाटकों में भावों और विचारों की इतनी सबल प्रेरणा है कि उसके सामने कथावस्तु गौण बन जाता है। वास्तव में कथा-वस्तु उनके भावों तथा विचारों का माध्यम मात्र है। इसलिए हमें उनके नाटकों में यह देखने की आवश्यकता है कि उनके पात्र क्या कहते हैं। कौन कहता है, इसकी चिन्ता और छान-बीन करने की हमें आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों द्वारा इतिहास की शुष्क इतिवृत्ता-त्मकता को साहित्य का सुघर स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपनी ओर से कथावस्तु की ऐतिहासिकता में कुछ

परिवर्तन भी किया है, पर एक सीमा के भीतर और बड़े कलात्मक ढंग से।

प्रसाद के समस्त नाटकों का एक ही सन्देश नहीं है। कथा-वस्तु की विभिन्नता के साथ-साथ उनके सन्देश भी बदलते गये हैं। पर ऐसे सभी सन्देश एक उद्देश्य-सूत्र से बँधे हुए हैं। उनके नाटकों का उद्देश्य है पतितों को उठाना, निराशा की गर्त में गिरे हुए प्राणियों को, पीड़ित मानव को, विश्व-मंगलकारी आशावाद का संदेश देना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने नाटकों की कथावस्तु-सम्बन्धी सामग्री उस स्वर्ण युग से संकलित की है जो भारत के लिए ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए आकर्षण का माध्यम है। इसीलिए उनके नाटकों में राजनीतिक द्वन्द्व, प्रणय के घात प्रतिघात तथा आध्यात्मिक उत्थान के साथ-साथ आकर्षण है, ओज है, आदर्श है।

२. चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण का एक विशेष स्थान होता है। यदि सच पूछा जाय तो नाटक महान् चरित्रों की एकत्रित गाथा-मात्र है। आदर्श की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में हम दो प्रकार के चरित्र पाते हैं—१. स्वाभाविक और २. परिस्थितिजन्य। परिस्थितियों से ही चरित्र बनता है और चरित्र का चित्रण भी परिस्थितियों के अनुकूल ही होता है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इस बात का अत्यधिक ध्यान रखा है। उन्होंने अपने पात्र को ऐसी परिस्थितियों में रखकर उनके चरित्र का विकास किया है कि पाठक को उसे समझने में कठिनाई नहीं हो सकती।

चरित्रों के दो मुख्य अंग होते हैं—१. सूचनात्मक और २. विकासात्मक। नाटकों के कथोपकथन में कुछ चरित्रों को तो हम विकासात्मक पाते हैं और कुछ को सूचनात्मक। नाटककार चरित्रों के इन दोनों अंगों का विकास १. वार्तालाप, २. स्वगत कथन, ३. दूसरों का कथन, और ४. कार्य-व्यापार द्वारा करता है। प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इन चारों साधनों का सम्यक् निर्वाह किया है। उनके सम्पूर्ण चरित्र तीन श्रेणियों में विभाजित हो सकते हैं—१. देवता, २. राक्षस और ३. मनुष्य। देव-चरित्रों में गौतम, प्रेमानन्द और वेदव्यास आदि की गणना की जा सकती है। वे संसार में रहते हुए भी उससे तटस्थ तथा उदासीन रहते हैं। उनमें वैराग्य और निर्वेद की भावना प्रधान रहती है और इस भावना के साथ एक सात्विक वातावरण रहता है। ऐसे चरित्र उनके नाटकों में आधारभूत दार्शनिक तत्त्वों और धर्म-सूत्रों को तर्क द्वारा प्रतिष्ठापित करते हैं और अपने संसर्ग में लाकर दुष्ट चरित्रों का परिष्कार तथा सुधार करते हैं। असुर-चरित्रों में कश्यप, देवदत्त शांतिभिक्षु तथा विरुद्धक आदि की गणना की जा सकती है। मानव स्वभाव में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, पर इनमें से जब किसी एक की प्रधानता हो जाती है तब हम अपनी कल्पना के अनुसार देवता अथवा राक्षस-चरित्रों का अनुमान करते हैं। राक्षस-चरित्र भी परिस्थितियों की लपेट में आते हैं और अपनी प्रबल तामसिक भावनाओं के कारण समस्त वातावरण को कलुषित और विषाक्त बना देते हैं। अन्त में उनकी पराजय होती है और वे देव-

चरित्रों के संसर्ग में आकर सुधर जाते हैं। तीसरे प्रकार के चरित्र मानव हैं जो संसार की तरंगों पर बहते हैं। वे रमणीय प्रलोभन और भयानक स्थिति से प्रभावित होकर घुटने टेक देते हैं। उनमें मानव की सभी दुर्बलताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। प्रसाद ने ऐसे चरित्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का द्वार खोल दिया है। इसीलिए हमें उनके नाटकों में करुणा, क्षमा तथा विश्व-प्रेम के दर्शन होते हैं। प्रसाद के प्रमुख पात्र जीवन के बाह्य संग्राम के साथ-साथ स्वयं अपने मन के साथ भी लड़ते हैं। वह आत्मचिन्तन करते हुए ही कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। एक ओर उन्हें पाशविक बर्बरता को ध्वंस करने की आवश्यकता का आभास होता है तो दूसरी ओर उन्हें अपने मन को संवेदनशील बनाये रखने की साधना करनी पड़ती है।

प्रसाद के नाटकों में स्त्री-पात्रों की प्रमुखता है। जिस प्रकार सृष्टि के मूल में स्त्रियों की प्रधानता है उसी प्रकार प्रसाद के पुरुष-पात्रों के मूल चरित्र में नारियों की। उन्हीं की सुकुमार एवं भीमाकार मनोवृत्तियों के इंगित पर परिचालित होकर प्रसाद के पुरुष-पात्र जीवन के विशाल रंगमंच पर नृत्य करते हैं। प्रसाद की नारी-पात्रियाँ पुरुषों को उनके कर्तव्य-मार्ग में उद्बुद्ध और प्रोत्साहित करती हैं। नाटककार के कौशल से पुरुष-पात्रों के तामसिक, राजसिक एवं सात्विक गुणों के अनुरूप ही उन्हें उनकी सहयोगिनियाँ प्राप्त हुई हैं। प्रसाद के नाटकों में जटिल से जटिल राजनीतिक गुत्थियाँ पात्रों द्वारा ही सुलझाई गई हैं। ये कभी प्रेम के वासन्ती कुंजों में विहार करती हैं, कभी के प्रज्ज्वलित समर-स्थल में तलवारों के साथ खेलती हैं

और कभी गार्हस्थ्य जीवन की शोभा बढ़ाती हैं। वे गायिका भी बनती हैं और जादूगरनी भी। राजनीतिक उलझनों के बीच वे छल, बल, कौशल सबसे काम लेती हैं और अपने चिर-अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति करती हैं। वे राजनीतिकुशला और कूटनीतिज्ञा हैं। इस दिशा में प्रसाद बंकिम बाबू के नारी-पात्रों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं।

३. कथोपकथन—कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भाव-व्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इसका प्रधान कार्य कथावस्तु को विस्तार देना, उसे संयत करना और उसके उत्कर्ष का साधन होना है। उनकी भाषा सजीव, शिष्ट, स्वाभाविक, संयत और गंभीर होती है। वह पात्रों के उपयुक्त होती है और उससे पाठकों की उत्सुकता आदि से अन्त तक बनी रहती है। प्रश्न और उत्तर के साथ-साथ उसमें भाषण का दोष नहीं होता। नाटकीय कथोपकथन और औपन्यासिक कथोपकथन में महान् अन्तर होता है। जहाँ उपन्यासकार अपने कथोपकथन को विस्तार देता है वहाँ नाटककार को एक उचित सीमा के भीतर शिष्ट और संयत वाक्यों में सब कुछ कह देना पड़ता है। नाटककार के कथोपकथन में अपेक्षाकृत उत्सुकता की मात्रा अधिक रहती है। प्रसाद के कथोपकथन में सब कुछ है, पर उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट है कि पाठक को पग-पग पर अर्थ-सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है।

४. नृत्य, संगीत तथा दृश्य—नृत्य नाटक का एक प्रमुख अंग है। नृत्य के साथ-साथ गीत का भी स्थान है। घटना-क्रम समझाने के लिए दृश्य भी अनिवार्य होते हैं। प्रसाद ने अपने

नाटकों में इन तीनों को उचित स्थान दिया है। उनके गीत प्रायः छायावादी या रहस्यवादी होते हैं। इससे रस-परिपाक में कहीं-कहीं बाधा उपस्थित हो गई है। नृत्य का आयोजन कम है। दृश्य दो प्रकार के हैं—पथ और प्रकोष्ठ। राजकीय पात्र अधिकांश प्रकोष्ठ पर दिखाये गये हैं। राजनीतिक संघर्ष के कारण व्याकुल साधारण पात्र पथ पर मिलते-जुलते हैं। पथ और प्रकोष्ठ के अतिरिक्त वन तथा उपवन की भी छटा उनके नाटकीय दृश्यों में मिलती है। 'स्कन्दगुप्त' में दृश्य की विचित्रता और नवीनता अधिक है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी सन्निवेश किया है।

५. अभिनयशीलता—प्रसाद के नाटक अभिनयशील नहीं हैं। भाषा की क्लिष्टता, काव्य की साहित्यिकता तथा अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने रंगमंच की शोभा बढ़ाने के लिए अपने नाटकों की रचना नहीं की। नाटक के लिए बाहरी रंगमंच ही सब कुछ नहीं है। रंगमंच को नाटककार के अनुसार अपना विकास करना पड़ता है। रंगमंच के अनुसार नाटकों की रचना करना नाटक-मंडलियों का काम है। साहित्यिक नाटककार जब नाटक लिखने बैठता है तब उसके सामने नाट्य-साहित्य की परम्पराएँ और मानव-हृदय का अन्तर्द्वन्द्व होते हैं। वह नाट्य-साहित्य की परम्पराओं का न्यूनाधिक सहारा लेकर अपनी कल्पना तथा अनुभूति से जिस नाटक की रचना करता है उसमें मानव-हृदय बोलता रहता है। वह प्रस्तुत रंगमंच तथा उसकी आवश्यकताओं की चिन्ता नहीं करता। यदि वह ऐसा करने लगे तो न तो रंगमंच का ही

विकास हो सके और न नाट्य-कला का ही। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में अभिनयशील न होने का जो दोष है वह क्षम्य है। फिर भी काट-छाँट के पश्चात् उनके कतिपय नाटक, रंगमंच की शोभा बढ़ा सकते हैं। 'चन्द्रगुप्त', 'राज्यश्री', 'स्कन्दगुप्त' तथा 'अजातशत्रु' का अभिनय साधारण परिवर्तन के साथ बड़ी सफलतापूर्वक किया जा चुका है।

६. अन्य विशेषताएँ—प्रसाद के नाटकों की, उपर्युक्त पंक्तियों में जो आलोचना की गई है उससे उनकी विशेषताओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ जाता है, पर उन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। अतः निम्न पंक्तियों में उन्हीं पर प्रकाश डाला जायगा :—

[१] प्रसाद के अधिकांश नाटक करुण सुखान्त होते हैं। इस दिशा में उन्होंने न्यूनाधिक भरत मुनि की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया है। उनके नाटकों में पहले फलागम का पता नहीं चलता, पर संघर्ष बढ़ता रहता है और अन्त में नायक को शान्ति प्राप्त होती है।

[२] कला की न्यूनाधिक स्वतंत्रता लेते हुए भी प्रसाद ने कतिपय प्राचीन परिपाटियों का अनुसरण किया है। उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत, विदूषक और गान का विधान प्राचीन नाट्य-परम्परा के अनुसार ही किया है। 'सज्जन' नामक एकांकी नाटक में नान्दी का सर्वप्रथम आना और उसके पश्चात् सूत्रधार का अपनी स्त्री से नाट्याभिनय के लिए प्रस्ताव करना यह सिद्ध करता है कि प्राचीन नाट्य-कला के प्रति उनकी सहानुभूति थी।

आगे चलकर यद्यपि उनकी इस सहानुभूति में आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन हो गया तथापि उनके कथोपकथन तथा दृश्य-वर्णन में प्राचीन परिपाटी का रंग मिलता है। वर्जित दृश्य दिखाने में उन्होंने अपनी स्वतंत्रता से काम लिया है। इस प्रकार वे कहीं प्राचीन और कहीं नवीन, दोनों एक साथ हैं।

३. प्रसाद के नाटकों पर सामयिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय भावनाओं का भी प्रभाव है। उन्होंने भारतीय आख्यान के पुरातन कलेवर में नूतन प्राण-प्रतिष्ठा कर दी है। भारतेन्दु-काल में लोगों का अंग्रेज़ी सत्ता में विश्वास था, पर बंगाल-विभाजन के पश्चात् स्वदेश-प्रेम और स्वराज्य की जो लहर फैली उसने देश की राजनीति को ही नहीं, साहित्य को भी प्रभावित किया। प्रसाद इस प्रभाव से वञ्चित न रह सके। उन्होंने अपने नाटकों में प्राचीन भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण, उज्ज्वल और पवित्र चित्र भर दिये कि अतीत हमारे लिए वर्तमान हो गया। गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्दगुप्त, बन्धुवर्मा यदि पुरुष-चरित्रों में महान् हैं तो देवकी, देवसेना, अलका तथा वासवी भारतीय देवियों के चित्र हैं। ऐसे चरित्र हमारे लिए प्राचीन होने पर भी चिर नवीन हैं।

४. प्रसाद प्राचीन साहित्य-प्रेमी हैं। उन्हें अपने प्राचीन गौरव से विशेष प्रेम है। प्रत्येक युग एक दूसरे युग का जन्म-दाता होता है, अतएव वर्तमान को समझने के लिए हमें भूत-काल की ओर तथा भविष्य को समझने के लिए वर्तमान काल की ओर दृष्टिपात करना पड़ता है। इतिहास से हमें इसी प्रकार के दृष्टिपात के लिए एक प्रकाश मिलता है जिसकी साहित्य में

हम अवहेलना नहीं कर सकते। प्रसाद के नाटक प्राचीन भारत की जो झांकी हमारे सामने उपस्थित करते हैं उससे हमें प्रोत्साहन मिलता है। 'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर उन के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं। आलोचना की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनका यह इतिहास-प्रेम कहीं-कहीं अहितकर भी हुआ है, इससे उनका कलाकार का रूप दब सा गया है और वस्तु-संकलन तथा कार्य-संकलन पर भी आघात पहुँचा है, पर इन दोषों के होते हुए भी उनका नाट्य-साहित्य अपने में महान् है।

५. प्रसाद पहले रहस्यवादी कवि और बाद में नाटककार हैं। इसलिए उनके पात्र अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर कथोपकथन करते हैं। पर सर्वत्र सभी पात्रों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। प्रसाद की शैली और विचार का क्रमशः विकास हुआ है। इसीलिए उनके नाटक असम महत्त्व के हैं। उनकी भाषा, उनकी शैली, उनकी विचारधारा पात्रों के योग्य तथा देश और काल के सम्यक् प्रभाव से बदलती रहती है। भावावेश में ही उनकी भाषा, कल्पना और अलंकारों का उपयोग करती है और धीरे-धीरे कवित्व का रूप धारण कर लेती है। ऐसे ही अवसरों पर उन्होंने अपने नाटकों में गीतों का समावेश किया है।

६. प्रसाद के नाटकों में उनकी दार्शनिकता के कारण गंभीरता आ गई है। इसीलिए उनमें हास्य-रस का एक प्रकार से अभाव है। उनके नाटकों में करुण, शान्त और शृङ्गार रसों की प्रधानता है। प्रत्येक नाटक का अवसान प्रायः शान्त रस में होता है।

[७] प्रसाद नियतिवादी कलाकार हैं। उनका नियतिवाद उनके नाटकों में प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ता है, पर वह उनकी निराशा का, उनकी अकर्मण्यता का कारण नहीं बनता। कबीर की भाँति वह नियति से जूझने का, उससे लोहा लेने का प्रयास करते हैं। नियति-सम्बन्धी उनकी यह धारणा उनकी विचार-धारा को, उनके साहित्य को, ऊँचा उठाने में समर्थ हुई है।

प्रसाद और द्विजेन्द्रलालराय—

हम यह बता चुके हैं कि प्रसाद के नाटकों पर बँगला-साहित्य के नाटककार द्विजेन्द्रलालराय का प्रभाव है, पर प्रसाद की मौलिकता तथा विषय की गंभीरता ने उसे उभरने का अवसर नहीं दिया। इसीलिए दोनों कलाकारों की कृतियों में हमें महान् अन्तर दिखाई देता है। दोनों इतिहास-प्रेमी हैं, भारत के प्राचीन वैभव के उपासक हैं; पर जहाँ प्रसाद अपने नाटकों की सामग्री बौद्धकालीन भारत से ग्रहण करते हैं वहाँ राय बाबू मुग़लकालीन भारत से अपने नाटकों की कथावस्तु का संकलन करते हैं। हिन्दू-राष्ट्रीयता की दृष्टि से बौद्धकालीन भारत मुग़लकालीन भारत की अपेक्षा अधिक वैभवपूर्ण और ओजस्वी रहा है। बौद्धकालीन भारत में हमारी सभ्यता और संस्कृति का जो रूप है वह मुग़ल-काल में मिलना दुर्लभ है। मुग़ल-काल हमारी पराजय का—हमारे ह्रास का—काल है; बौद्ध-काल हमारे उत्थान, यश और वैभव का। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों का क्षेत्र द्विजेन्द्र बाबू के नाटकों के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर, रहस्यमय और भारतीय है। इसके अतिरिक्त राय बाबू के नाटकों में मानव-हृदय और मस्तिष्क का अन्तर्द्वन्द्व नहीं है जो

हमें प्रसाद के नाटकों में देखने को मिलता है। राय बाबू के नाटकों का मुख्य उद्देश्य है बंगीय रंगमंच को उन्नत करना और लोकरुचि के अनुकूल साहित्य प्रस्तुत करना। इसीलिए उनकी रचनाएँ अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान न होकर घटना-प्रधान हैं। इसके विरुद्ध प्रसाद ने अपने नाटकों की रचना साहित्य को ऊँचा उठाने और उसका गौरव बढ़ाने के विचार से की है। वह अपने नाटकों में न तो लोक-रुचि की चिन्ता करते हैं और न रंगमंच की। राजनीतिक क्रान्ति, प्रणय के घात-प्रतिघात और आत्मिक अन्तर्द्वन्द्व के बीच वह साहित्य को—कल्याणकारी साहित्य को जन्म देते हैं। उनका उद्देश्य है मानव-प्रवृत्तियों का संस्कार। इस उद्देश्य को सफल बनाने के लिए वे अपने नाटकों में उतनी ही घटनाओं का सन्निवेश करते हैं जितनी से उन्हें अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने में सहायता मिलती है। पर द्विजेन्द्र बाबू का उद्देश्य मानव-प्रवृत्तियों का संघर्ष उपस्थित करना नहीं है। इसलिए उनके नाटकों में उतने ही अन्तर्द्वन्द्व हैं जितनों से कथा-वस्तु के विकास में सहायता मिलती है। यही कारण है कि राय बाबू के नाटकों में हमें जीवन की ऊपरी चहल-पहल मिलती है और प्रसाद के नाटकों में जीवन की गंभीरता।

प्रसाद तथा राय बाबू की नाट्य-कला के सम्बन्ध में जो अन्तर ऊपर की पंक्तियों में दिखाया गया है वही अन्तर न्यूनाधिक रूप में हिंदी के अन्य नाटककारों की नाट्य-कला में पाया जाता है। इस समय हिंदी-साहित्य में लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामकुमार वर्मा, बेचन शर्मा, उग्र, सुदर्शन, भट्ट जी आदि उत्कृष्ट लेखक हैं, पर इन कलाकारों की कृतियों के पीछे वह

साधना और वह अध्ययन नहीं है जिसके लिए प्रसाद के नाटक प्रसिद्ध हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों की कथा-वस्तु-सामग्री पर वर्षों मनन किया है, उसे सजाया और सँवारा है और तब उसे साहित्य का रूप दिया है। उन्होंने अपनी ऐसी कृतियों से ही हिन्दी-नाट्य-साहित्य को ऊँचा उठाया है और उसे एक नवीन दिशा की ओर अग्रसर किया है। उनके नाटकों के अध्ययन से हमारी अतीत की स्मृतियाँ जागृत होती हैं, हमारी भावनाओं का संस्कार होता है, हमारी राष्ट्रीयता को बल मिलता है और हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा होती है। उनके नाटकों में हम देख सकते हैं कि हम क्या थे और अब क्या हैं। इस प्रकार प्रसाद अपने नाटकों में नवभारत के स्रष्टा और उस के पथ-प्रदर्शक हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि हिंदी-नाट्य-साहित्य के वे अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपने नाटकों में अपने आदर्शों की स्वयं रचना और रक्षा की है। इसीलिए वे प्रभावित होकर भी प्रभावित-से नहीं जान पड़ते। वे अपनी रचनाओं में अक्षरशः मौलिक हैं। उन्होंने अपनी रुचि और अपनी प्रतिभा के अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों के सम्मिश्रण से एक स्वतंत्र शैली बना ली है और उसका उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया है।

प्रसाद का निबन्ध-साहित्य—

प्रसाद ने उपन्यास, कहानी और नाटक ही नहीं, उत्कृष्ट निबन्ध भी लिखे हैं। उनके निबन्धों की तीन श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में उनके वे निबन्ध आते हैं जो आरंभिक काल में लिखे गये हैं और चित्राधार में प्रकाशित हुए हैं। चित्राधार में पाँच

निबन्ध हैं—दो कथा-प्रबन्ध के रूप में और तीन गद्य-काव्य के रूप में। इन निबंधों की शैली शिथिल, असंयत और बिखरी हुई है। उनके दूसरे प्रकार के वे निबन्ध हैं जो उन्होंने भूमिका के रूप में लिखे हैं। इन निबन्धों से उनकी साहित्यिक पहुँच, उनकी अध्ययनशीलता तथा उनके साहित्यिक आदर्शों का पता चलता है। 'कामायनी' महाकाव्य समाप्त करने के पश्चात् इन्द्र पर एक नाटक लिखने का उनका विचार था और उसके लिए उन्होंने सामग्री भी एकत्र की थी। यह सामग्री निबन्ध के रूप में प्रकाशित हुई और इससे पता चला कि इन्द्र ही प्राचीन आर्यावर्त के प्रथम सम्राट् थे। इससे प्रसाद की प्रखर प्रतिभा और गवेषणाशक्ति का आभास मिल जाता है।

तीसरी श्रेणी में प्रसाद के उन निबन्धों की गणना की जाती है जिन का संकलन उनकी मृत्यु के पश्चात् 'काव्य और कला' तथा 'अन्य निबन्ध' के नाम से किया गया है। यह निबन्ध भाव, भाषा तथा शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों की, उनके प्रथम निबन्धों से, तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने बीस वर्ष की अवधि में अपने को कितना ऊँचा उठाया है।

प्रसाद की काव्य-साधना—

प्रसाद की प्रतिभा के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं कि वे प्रथम श्रेणी के कवि हैं। हिन्दी-साहित्य में उनका इसी रूप में अधिक मान हुआ है। हम यह भी लिख चुके हैं कि उन्हें अपने पारिवारिक वातावरण से ही सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा मिली थी। वे अपने घर की साहित्यिक गोष्ठियों में बैठते थे और समस्यापूर्ति करनेवाले कवियों की कविताओं का

आनन्द लेते थे। अतः उन्होंने अपने जीवन के प्रभात-काल में जो कविताएँ कीं, उन पर उसी वातावरण का प्रभाव पड़ा। आगे चलकर जब वह प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित हुए और अध्ययन तथा अभ्यास से उनकी प्रतिभा का विकास हुआ तब उनकी काव्य-शैली ने भी अपना रूप बदल दिया। इस प्रकार वह प्राचीन युग की काव्य-साधना से निकलकर नवीन युग की काव्य-साधना के अग्रगामी बन गये। रचना-क्रम के अनुसार उन्होंने आठ काव्य-ग्रन्थ—१. चित्राधार, २. कानन-कुसुम, ३. महाराणा का महत्त्व, ४. प्रेम-पथिक, ५. झरना, ६. आँसू, ७. लहर और ८. कामायनी—लिखे हैं। इन काव्य-ग्रन्थों की विशेषताएँ इस प्रकार हैं:—

१. काव्य-विषय में नवीनता—प्रसाद का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह वह समय था, जब उसमें अनैसर्गिक काव्य-व्यापार चल रहा था। उसमें यदि एक ओर रीतिकालीन परम्पराओं का पृष्ठ-पेषण हो रहा था तो दूसरी ओर भारतेन्दु के प्रभाव के कारण प्रतिक्रिया के रूप में कुछ ऐसे आदर्शों की स्थापना का प्रयास हो रहा था जो काव्य की आत्मा को ऊँचा उठानेवाले नहीं थे; अतः हिन्दी कविता इस द्वन्द्व में पड़ी छटपटा रही थी। उसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसे समय में प्रसाद ने जन्म लेकर उसे नवीन विषयों से अलंकृत किया। उन्होंने उसकी मूर्च्छना दूर की, उसके बन्धनों को काट दिया और उसे नवजागरण का सन्देश देकर उसका क्षेत्र विस्तृत कर दिया।

२. भाव-जगत् का संस्कार—हिन्दी-काव्य-साहित्य में

नवीन विषयों के सन्निवेश के साथ ही प्रसाद ने उसे सस्ती और विकृति भावुकता के भँवर से निकालकर एक दृढ़, स्वस्थ, और सन्तुलित मानसिक पृष्ठभूमि पर स्थापित किया। उनके समय में कवियों के दो वर्ग थे—एक वर्ग शृंगार के नाम पर नारी-शरीर का अत्यन्त स्थूल और उत्तेजक वर्णन कर रहा था और दूसरा उसका बहिष्कार। काव्य-साहित्य के लिए इस प्रकार की दोनों धारणाएँ अहितकर थीं इसलिए प्रसाद ने एक सच्चे कलाविद् के रूप में पहली बार विकृत शृंगार के प्रति विद्रोह किया और उसके स्वास्थ्यकर और व्यापक रूप का परिचय दिया। वह प्रारम्भ से ही मानवता के लिए स्वास्थ्यकर साहित्यिक पृष्ठभूमि की रचना में संलग्न हुए। इसके लिए उन्होंने प्रकृति को अपना उपादान बनाया और उसी में सनातन पुरुष की विराट् प्रकृति-नारी का सौंदर्य देखा। ऐसा करने में उन्होंने दो आदर्शों की पूर्ति की। एक ओर तो उन्होंने शृङ्गार के विकृत स्वरूप का परिष्कार और परिमार्जन किया और दूसरी ओर मनुष्य और प्रकृति के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया। धीरे-धीरे यही सामञ्जस्य विकसित और प्रस्फुटित होकर करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति तथा विश्व-प्रेम में परिणत हो गया। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो प्रसाद का समस्त साहित्य इन्हीं पूत भावनाओं से ओतप्रोत है।

३. नवीन कल्पना की सृष्टि—भाव के अतिरिक्त कल्पना और सौंदर्य का भी काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए प्रसाद ने अपने काव्य में कल्पना तथा सौंदर्य का भी विधान बड़े कलात्मक ढंग से किया है। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं क्लिष्ट

कल्पनाओं तथा उनके बाहुल्य के कारण काव्य का संतुलन विकृत हो गया है, पर इस दोष के कारण उनका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के काव्य में कल्पना लांछित थी। ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय नवीन कल्पनाओं की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। प्रसाद ने नई कल्पनाओं से सर्वप्रथम कविता-कामिनी का शृंगार किया। 'आँसू', 'झरना', 'लहर' तथा 'कामायनी' में उनकी कल्पनाओं का सौष्ठव और शृंगार देखने योग्य है। 'आँसू' और 'कामायनी' का भव्य प्रासाद तो कल्पना के ही आधार पर खड़ा किया गया है। इन काव्य-ग्रन्थों में कवि की कल्पना ने पृथ्वी से उठकर आकाश का चुम्बन किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्व काल में जो कल्पना काव्य-परम्पराओं से जकड़ी हुई थी, प्रसाद ने अपने काव्य में उसे मुक्त-कुंतला नारी के समान पागल बना दिया है। इस पागलपन का कारण उनके काव्य का रहस्यवादी पक्ष है।

४. मानवीय सौंदर्य का चित्रण—प्रसाद का अधिकांश काव्य मनोवैज्ञानिक भित्ति पर आधारित है। वे प्रथमतः अशरीरी और अमूर्त्त भावों तथा विचारों के कवि हैं। शुद्ध मानव-सौंदर्य के चित्रण का प्रयत्न 'कामायानी' में हुआ है। चिंतित मनु का वर्णन देखिए :—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा, साधन करता सुरश्मशान।
नीचे प्रलय-सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान॥

गर्भिणी चिन्ता का चित्र देखिए :—

केतकी गर्भ-सा पीला मुख, आँखों में आलस भरा स्नेह।
कुश कृशता नई लजीली थी, कंपित लतिका सी लिए देह॥

इड़ा का रूपकमय चित्रण देखिए :—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशि खंड सदृश था स्पष्ट भाल।
दो पद्म पलाश चषक से दृग, देते अनुराग-विराग ढाल॥

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद मानव-सौंदर्य के चित्रण में बड़े कुशल थे। उनकी दृष्टि बाह्य सौंदर्य के तरलतम तत्त्वों पर ही पड़ती थी। नारी-सौंदर्य के चित्रण की जो परम्परा विद्यापति और सूरदास के काव्य में होती हुई देव और पद्माकर तक पहुँची थी, उसके वे विरोधी थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य को नारी के नग्न सौंदर्य के चित्रण से सर्वथा अछूता रखा।

५. प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण—मानवीय सौंदर्य के चित्रण के साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण भी प्रसाद के काव्य की एक विशेषता है। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि उनकी दृष्टि सर्वप्रथम प्रकृति के सौंदर्यपूर्ण गति-विधानों पर ही गई थी। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी काव्य-प्रेरणा का मुख्य आधार प्राकृतिक सौंदर्य ही है। प्राकृतिक सौंदर्य ने ही उनकी काव्य-कला को वाणी दी है और उनके काव्यमय जीवन का विकास किया है। उनकी समस्त रचनाएँ प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण से ओत-प्रोत हैं। उनके काव्य में हमें प्रकृति के अनेक रूपों के शुद्ध एवं रहस्यात्मक चित्र मिलते हैं, रहस्यात्मक इसलिए कि उन्होंने अपने प्रकृति-प्रेम को दर्शन की दृढ़ भित्ति पर खड़ा किया है। 'कामायनी' में प्रकृति के इसी विराट् एवं रहस्यमय रूप का अंकन है। उसकी कथावस्तु में प्रकृति को इस प्रकार गूँथ दिया गया है कि दोनों को पृथक्

करना कठिन हो जाता है। आरंभ में प्रलय का चित्र देखिए :—

नीचे जल था, ऊपर हिम था एक तरल था, एक सघन।
एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन॥

प्रकृति की रहस्यमयी सत्ता का एक चित्र देखिए:—

महानील उस परम व्योम से अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह-नक्षत्र और विद्युतकण करते हैं किसका संधान॥

'लहर' में सूर्योदय का एक सुन्दर चित्र देखिए:—

अन्तरिक्ष में अभी सो रही है ऊषा मधुबाला,
अरे खुली भी नहीं अभी तो प्राची की मधुशाला।
सोता तारक किरन पुलक रोमावलि मलयज वात,
लेते अंगड़ाई नीड़ों में अलस विहग मृदुगात।
रजनी रानी की बिखरी है म्लान कुसुम की माला,
अरे भिखारी तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला।

वस्तुत: प्रसाद के प्राकृतिक चित्रों का ऐश्वर्य और उनका वैभव अद्भुत है। वह जिस दृश्य का वर्णन करते हैं, उसका पूरा चित्र कुशल चित्रकार की भाँति पाठकों के सामने उतार देते हैं।

६. भाव-सौंदर्य की स्थापना—हम पहले कह चुके हैं कि प्रसाद यौवन और प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में यौवन के बड़े ही मार्मिक, सजीव और हृदयग्राही चित्र उतारे हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ कुछ प्रेम-सम्बन्धी हैं, कुछ भक्ति-सम्बन्धी, कुछ पौराणिक आख्यान-सम्बन्धी और कुछ प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी। इन कविताओं में भावों की उतनी निगूढ़ता नहीं है जितनी विषय-विन्यास की नवीनता है। प्रसाद का भाव-

सौंदर्य देखने के लिए हमें 'आँसू', 'झरना', 'लहर' 'कामायनी' तथा नाटकीय गीतों का अध्ययन करना चाहिए। इन काव्य-ग्रन्थों में भावों का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद हर्ष-विषाद-युक्त मानवीय मनोभावों के कवि हैं। वे मानवीय मनोभावों से इतने प्रभावित हैं कि मानव ही उनके चिन्तन की इकाई बन गया है। हमें उनकी रचनाओं में सौंदर्य और प्रेम के मनोवृत्यात्मक तथा वर्णनात्मक दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। इन चित्रों का प्राकृतिक सौंदर्य के साथ इस प्रकार गठबन्धन हो गया है कि एक के बिना दूसरा अपूर्ण प्रतीत होता है। उनके सौंदर्य और प्रेम में ऐहिक भावना के साथ-साथ मानवीय मनोवृत्तियों को उन्नत रूप देनेवाली उदात्त भावनाएँ भी हैं। उनकी ऐसी ही उदात्त भावनाओं में हमें उनके रहस्यवाद का परिचय मिलता है। यौवन के प्रति कवि के आग्रह का एक चित्र लीजिए:—

यौवन ! तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया।

प्रसाद के यौवन के चित्र बड़े संयत, गम्भीर और आदर्श की पूर्ति में सहायक होते हैं। यद्यपि ऐसे चित्रों के अंकन में कल्पना का योग अत्यधिक रहता है तथापि वे वास्तविक-से जान पड़ते हैं। यौवन का एक और चित्र लीजिए:—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में, कौतूहल-से तुम आये॥

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि प्रसाद अपने भावों के सुन्दर

चित्र उतारने में बड़े कुशल हैं। उनकी भावाभिव्यंजना आकर्षक, सरस, सांकेतिक और वैभवयुक्त होती है।

७. रहस्यवाद और छायावाद—प्रसाद वर्तमान युग के प्रथम छायावादी कवि थे। उन्होंने हिन्दी-काव्य-जगत् में छायावाद की मधुर रागिनी उस समय छेड़ी थी जिस समय बंगला-साहित्य में महाकवि रवीन्द्रनाथ की धूम थी। वे उनकी 'गीताञ्जलि' से बहुत प्रभावित थे। हम पहले कह चुके हैं कि उनके कवि-रूप को सार्थक बनाने में प्रकृति का बड़ा हाथ था। वस्तुतः प्रकृति ही उनके मस्तिष्क और हृदय को, उनके विचारों और भावों को एक सूत्र में बाँधकर अभिनव रूप देने में समर्थ हुई थी। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति अपने मनमोहक रतिरूप में खड़ी होकर उन्हें अपनी ओर बुला रही थी और वे उसके संकेत पर उसकी ओर खिंचे चले जा रहे थे। प्रकृति-सुन्दरी के इस प्रकार के आकर्षण के साथ-साथ उन पर अद्वैतवाद का भी प्रभाव था। ऐसी दशा में उनका छायावादी हो जाना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद को छायावादी कवि बनाने में चार बातें मुख्य हैं—१. प्रकृति-प्रेम, २. अज्ञात के प्रति उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा, ३. दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन और ४. 'गीताञ्जलि' का प्रभाव। इन्हीं प्रभावों के कारण उन्होंने प्रकृति में मनुष्य का—मानव जीवन-का—प्रतिबिम्ब देखा है और उसे कवि की हैसियत से चित्रित किया है। छायावादियों के दो वर्ग होते हैं—एक तो अन्योक्ति कहकर उपदेश देते हैं और दूसरे कवि-प्रसाद दीनदयाल गिरि की भाँति अन्योक्तियों

का सहारा लेकर उपदेश नहीं देते। वे छायावादी कवि हैं। उन्होंने अपने भावुक हृदय द्वारा विचार और भावना को एक कर दिया है। वे बाह्य परिस्थितियों की भावुकता से संचालक अथवा उनसे संचलित जीवन के रहस्यों से उद्वेलित होते हैं। जब उनके काव्य-जीवन में ऐसी दशा आती है तब वे रहस्यवादी हो जाते हैं। इस प्रकार प्रसाद अपनी रचनाओं में कहीं छायावादी और कहीं रहस्यवादी के रूप में आते हैं। छायावादी कवियों की भाँति रहस्यवादी कवि भी दो प्रकार के होते हैं—एक विचारक और दूसरे कवि। प्रसाद रहस्य-वादी कवि हैं और उनके ये दोनों रूप—छायावादी और रहस्यवादी—आनन्दमय हैं। रहस्यवादी कवि के रूप में वे आध्यात्मिकता की ओर झुके हुए हैं और छायावादी कवि के रूप में वे प्राकृतिक सौंदर्य में मानवजीवन का सौंदर्य देखते हैं। छायावाद का उदाहरण लीजिए:—

रजनी रानी की बिखरी हैं म्लान कुसुम की माला।
अरे भिखारी! तू चल पड़ता लेकर टूटा प्याला॥
गूँज उठी तेरी पुकार कुछ मुझ को भी दे देना।
कन कन विभवदान कर अपना यश ले लेना॥

रहस्यवाद का उदाहरण लीजिए:—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ।
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ॥
हे विराट! हे विश्व देव! तुम कुछ हो—ऐसा होता भान।
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत यही कर रहा सागर गान॥

८. प्रेम-साधना—प्रसाद प्रेम और वासना की मीमांसा करने वाले हिन्दी के प्रथम कवि हैं। प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है। उनका प्रेम-निरूपण न तो एकदम अलौकिक है और न एक दम लौकिक। लौकिक और अलौकिक के बीच उनके प्रेम का विकास हुआ है। उनका प्रेमी लौकिक प्रेम में अध्यात्म का संकेत पाता है। प्रेम-निरूपण की यह धारणा सर्वथा नवीन है। भक्ति-काल के कवियों ने प्रेम को इतना ईश्वरोन्मुख बना दिया था कि उसमें लौकिक पक्ष का अभाव हो गया था। इसके विरुद्ध रीतिकाल में कवियों ने प्रेम के लौकिक पक्ष को ही प्रधानता दी थी। प्रसाद ने इन दोनों मार्गों के बीच अपना मार्ग बनाया। ऐसा करने में उन्होंने भारतीय संस्कृति और युगानुकूल भावना का भी ध्यान रखा। वे जीवन को अनन्त मानते थे, इसलिए उनकी प्रेमभावना भी अनन्त थी। 'कामायनी' में उन्होंने प्रेम के राजस, तामस और सात्विक तीनों रूपों का चित्रण किया है। इडा राजस प्रेम की प्रतीक है, मनु तापस प्रेम के प्रतीक हैं और श्रद्धा सात्विक प्रेम की प्रतीक है। श्रद्धा प्रेम का संदेश लेकर आई है। मनु का प्रेम उद्दाम, वासना-प्रधान और कायिक है। काम और वासना शीर्षक सर्गों में इसी उद्दाम प्रेम की विस्तृत मीमांसा की गई है।

प्रसाद की अलंकार और रस-योजना—

प्रसाद मुख्यतः भाव-लोक के कवि हैं और रीतिकालीन परम्पराओं की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आते हैं। इसलिए हम उनके काव्य में अलंकार अथवा रस की कोई निश्चित योजना नहीं पाते। भावों का चित्रण ही उनके काव्य

का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति में अलंकारों तथा रसों का विधान गौण रूप से हुआ है। उनकी रचनाओं में हमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अधिक मिलते हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी अनूठी और आकर्षक होती हैं। प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में जहाँ उन्होंने अलंकारों का उपयोग किया है, वहाँ भी उपमा, रूपक इत्यादि की ही अधिकता है और रूपकों में भी नारी-सापेक्ष्य प्रकृति की सांग-रूपकता ही का प्राधान्य है।

अलंकारों की भाँति रसों का आयोजन भी प्रसाद के साहित्य में गौण है। उनके काव्य में रस-परिपाक अपने स्वाभाविक रूप में हुआ है। भावों तथा कल्पनाओं की क्लिष्टता के कारण कहीं-कहीं बाधाएँ भी उपस्थित हुई हैं। उनकी रचनाएँ शृंगार-रस-प्रधान होती हैं जिनका अवसान शान्त रस में होता है। इन दो रसों के अतिरिक्त करुण-रस भी उनकी रचनाओं में मिलता है।

प्रसाद की छंद-योजना—

प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य कई छन्दों में है। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ प्रायः घनाक्षरी में हैं। खड़ी बोली में अपने विशिष्ट काव्य के प्रकाशन के लिए उन्होंने नये छन्दों का आयोजन किया है। इन नये छन्दों में अतुकान्त कविताओं का प्रमुख स्थान है। 'प्रेम-पथिक' इसी छन्द में लिखा गया है। यद्यपि उनके पहले भी कुछ अतुकान्त कविताएँ लिखी गई थीं तथापि भाव एवं भाषा के सामञ्जस्य की दृष्टि से जैसी रोचकता प्रसाद के सतुकान्त छन्दों में पाई जाती है, वैसी उनमें नहीं है। प्रसाद ने भाव और छन्द को एक नवीन आवरण देने की

अभिलाषा से ही अतुकान्त छन्दों की सृष्टि की। काव्य में अतुकान्त छन्दों की आवश्यकता पड़ती है—गीति-नाट्य अथवा कथात्मक प्रबन्ध-काव्य में। प्रसाद ने गीति-नाट्य-'करुणालय' अतुकान्त छन्दों में ही लिखा। इस समय अतुकान्त छन्द के दो रूप सामने हैं—एक गुप्त जी द्वारा अनुवादित 'मेघनाद-वध' का घनाक्षरी से उत्पन्न मिताक्षरी छन्द और दूसरा घनाक्षरी के प्रवाह के अनुरूप निराला का अतुकान्त मुक्त छन्द। 'प्रेम-पथिक' के अतिरिक्त प्रसाद ने जो अतुकान्त कविताएँ लिखी हैं वह प्रायः घनाक्षरी छन्द के प्रवाह पर ही चली हैं। 'प्रेम-पथिक' में उनके अतुकान्त छन्दों का नवीन प्रयोग है। अपने इस प्रयोग में भी वे सफल हैं। उन्होंने पन्त और निराला जैसी स्वतंत्रता से अपने अतुकान्त छन्दों में काम नहीं लिया है। उन्होंने 'सानेट' (Sonnet) जैसे अँगरेज़ी और त्रिपदी और पयार जैसे बंगाली छन्दों का भी बड़ी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। अपने काव्य-ग्रन्थ 'आँसू' में उन्होंने एक निश्चित छन्द का प्रयोग किया है। यह बड़ा लोक-प्रिय छन्द है। 'कामायनी' का अन्तिम सर्ग इसी छन्द में लिखा गया है। इन छन्दों के अतिरिक्त 'कामायनी' में ताटंक, पदाकुलक, रूपमाला, सार, रोला आदि छन्द भी मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वे अपनी छन्द-योजना में प्राचीन और नवीन दोनों हैं।

प्रसाद की भाषा—

भाषा की दृष्टि से प्रसाद का साहित्य अपनी कई विशेषताओं के साथ हमारे सामने आता है। हम यह बता चुके हैं

कि वे उच्च कोटि के कलाकार थे। इसलिए उन्होंने नवयुग का साहित्य निर्माण करने में भाषा का बहुत ध्यान रखा। उनकी भाषा हमें दो रूपों में मिलती है—व्यावहारिक भाषा और संस्कृत-प्रधान भाषा। आरम्भ में उनकी रचनाओं की भाषा प्रायः सरल थी, पर ज्यों-ज्यों उनका अध्ययन बढ़ता गया, विचारों और भावों में परिपक्वता आती गई त्यों-त्यों उनकी भाषा भी गंभीर होती गई। इसीलिए उनकी प्रारंभिक रचनाओं में हमें व्यावहारिक भाषा मिलती है। गद्य में उनकी भाषा खड़ीबोली है, पर पद्य में उन्होंने शुद्ध ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों का प्रयोग किया है। इस कारण से उनकी भाषा में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और प्रवाह में बाधा भी पड़ी है। इसके बाद हमें उनकी संस्कृत-प्रधान भाषा मिलती है। मनोभावों का द्वन्द्व चित्रित करने तथा गंभीर विषयों के विवेचन में ही उन्होंने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त होने के कारण क्लिष्ट अवश्य हो गई है, पर उसकी स्वाभाविकता और प्रवाह में बाधा नहीं पड़ी है। उनकी भाषा में प्रयत्न नहीं है। संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन से संस्कृत की तत्सम शब्दावली को उन्होंने इतना अपना लिया है कि भाषा उनके विचारों का अनुगमन मात्र करती है। उनका शब्द-चयन अद्वितीय है। उनकी रचनाओं में एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ ज्ञात होता है। उनके वाक्य उनकी विचारधारा के साथ चलते हैं और विचारों की गति के अनुसार ही उनका क्रम बनता है। उनकी रचनाओं में गूढ़ वाक्य प्रायः सूत्र की

भाँति प्रतीत होते हैं। मुहावरों का उनकी रचनाओं में अभाव है, पर वह खटकता नहीं। कुछ मुहावरे अपने प्रकृत रूप में न आकर कृत्रिम रूप में आये हैं जिससे उनका सौंदर्य बिगड़ गया है और प्रयोग भी खटकता है। कहावतें तो मिलती ही नहीं। गम्भीर विषयों के विवेचन में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कदाचित् इसी कारण से उन्होंने मुहावरों तथा कहावतों के प्रयोग से अपनी भाषा को सजाने की चेष्टा नहीं की। उनकी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी बहुत कम हैं। नाटकीय कथोपकथन में उनके समस्त पात्रों की भाषा एक-सी है, इसलिए उसमें अस्वाभाविकता आ गई है। पात्रों के अनुकूल ही उनकी भाषा का उतार-चढ़ाव होना चाहिए। नाटकों की भाषा उनके उपन्यासों की भाषा से कठिन है, पर उसमें सर्वत्र माधुर्य, ओज और प्रवाह बना हुआ है। इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी भाषा में एक स्वाभाविक संगीत है। इस संगीत में अद्भुत उन्माद, तल्लीनता और मस्ती है जो पाठकों को बरबस अपनी ओर खींच लेती है। इसीलिए हम उनकी भाषा की क्लिष्टता का अनुभव नहीं करते। मिल्टन और स्टीवेन्सन की भाँति उन्होंने अपनी भाषा का निर्माण साधारण पाठकों के लिए नहीं किया है। वे विचारक, समालोचक और तत्त्वदर्शी हैं। इसलिए उनकी भाषा भी वही समझ सकते हैं जिनकी गम्भीर विषयों में पहुँच है। पाण्डित्य-प्रदर्शन उनकी भाषा का उद्देश्य नहीं है और न उन्होंने शब्दों ही के साथ खेल किया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना-शब्द की इन तीनों शक्तियों से उन्होंने अपने मनोभावों के स्पष्टीकरण में सहायता ली है और वे सफल हुए

हैं। अतः संक्षेप में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनके भावों तथा विचारों की भाँति उनकी भाषा का भी विकास हुआ है और ज्यों-ज्यों वे लिखते गये हैं त्यों-त्यों उसमें प्रौढ़ता, सौंदर्य, प्रवाह और सौष्ठव आता गया है।

प्रसाद की शैली—

भाषा की भाँति प्रसाद की शैली भी ठोस, स्पष्ट और परिष्कृत है। उनकी शैली पर उनके विषय, उनकी स्वाभाविक रुचि, उनके गम्भीर अध्ययन और उनके व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव है। इसलिए उसमें इतना अपनापन है, इतना प्रसादत्त्व है कि समस्त आधुनिक साहित्य में उनका एक वाक्य भी छिप नहीं सकता। वे अपने प्रत्येक वाक्य में, प्रत्येक पद में बोलते हुए-से जान पड़ते हैं। छोटे-छोटे वाक्यों में गम्भीर भाव भर देना और फिर उसमें संगीत और लय का विधान करना उनकी शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं। वे अपनी शैली में गम्भीर भी हैं और सुहृदय भी। प्रयत्न और प्रयास के अभाव के कारण उसमें स्वाभाविकता बनी हुई है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए वे जैसी उपमाओं और उक्तियों का विधान करते हैं, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। उनकी शैली में काव्यात्मक चमत्कार है। यह चमत्कार वे अपनी रचनाओं में केवल इसीलिए ला सके हैं कि वे अपने पाठक के दुःख-सुख को, उसकी आशा-निराशा को, उसके उत्थान-पतन को, उसके अनुराग-विराग को समझने और अपनाने में समर्थ हुए हैं। जब वे भावावेश में आते हैं तब उनकी भावात्मक शैली इतनी सरस, चुटीली और प्रवाहपूर्ण हो जाती है कि वह पाठक को

अपने में निमग्न कर लेती हैं। उनकी ओजपूर्ण शैली उनके नाटकों में देखने को मिलती है। देश-प्रेम की पवित्र भावना से प्रभावित होने पर वीर रस का सारा ओज उनकी शैली में समा जाता है। शब्दों द्वारा परिस्थितियों का आभास कराने तथा उसकी विशेषता उत्पन्न करने में उनकी शैली बेजोड़ है। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी और क्या काव्य, सब जगह हमें उनकी शैली की यह विशेषता स्पष्ट रूप से मिलती है। ऐसी शैली अपना प्रभाव डालने में समर्थ होती है। कहीं-कहीं इस प्रभाव को तीव्रतर करने के लिए उन्होंने अपनी रचनाओं में मार्मिक व्यंग का भी समावेश किया है। ऐसे स्थलों पर उनकी व्यंगात्मक शैली का सहज माधुर्य देखने योग्य होता है। उसमें कसक नहीं, मिठास होती है जिसका आनन्द वक्ता और श्रोता दोनों समान रूप से लेते हैं। यह तो हुई उनके गद्य-साहित्य की बात। पद्य-साहित्य में उनकी शैली सर्वथा नवीन है। अतुकान्त छन्दों के आयोजन तथा अप्रचलित और अछूते छन्दों के प्रयोग से उन्होंने अपने काव्य-साहित्य को जिस प्रकार नये ढंग से अलंकृत किया है वह हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में अपना एक निजी महत्त्व रखता है। वे अपनी शैली के स्वयं निर्माता हैं। अँग्रेजी, बँगला तथा संस्कृत साहित्य से उन्होंने जो कुछ सीखा और अपनाया है उस पर उनके व्यक्तित्व की इतनी स्पष्ट छाप है कि उसका विदेशीपन दूर हो गया है। अब यदि हम संक्षेप में उनकी शैली के सम्बन्ध में कहना चाहें तो केवल इतना कह सकते हैं कि उनकी शैली सरस, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, ओजमयी, प्रभावशाली, चुटीली और संवेदनशील

होती है। चित्रोपमत्ता उनकी शैली का विशेष गुण है।

प्रसाद का हिन्दी-साहित्य में स्थान—

अब तक हमने प्रसाद और उनके साहित्य के विविध अंगों पर जिस दृष्टि से, संक्षेप में, विचार किया है उससे स्पष्ट है कि उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के वे निर्माता थे। उन्होंने अपने अध्ययन और चिन्तन से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और अपनी रचनाओं का दान देकर उसे सबल और प्रौढ़ बनाया। क्या नाटक, क्या कहानी और उपन्यास, क्या गीतिकाव्य और महाकाव्य, क्या इतिहास और निबन्ध, सब उनकी प्रतिभा से पवित्र और पुष्ट हुए हैं। एक ओर उनकी कविताएँ साहित्य के निष्णात पंडितों और आचार्यों के समीप समादृत हुई हैं तो दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रणाली के अनेक कवियों का पथ-प्रदर्शन किया है। हिन्दी के कथा-क्षेत्र में वे एक नवीन शैली के प्रवर्तक हैं। उनका नाट्य-साहित्य अपने ढंग का निराला और अद्वितीय है। उसमें पात्रों की नवीनता और भावों की गम्भीरता के साथ-साथ चरित्र-चित्रण का सौंदर्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। उनके उपन्यास उच्च वस्तुवादी कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं और उनमें समाज-निर्माण की कई नवीन समस्याओं का विश्लेषण है। जिस प्रकार गुप्त जी को काव्य के क्षेत्र में कथा-वस्तु-द्वारा भावोद्भावना होती है उसी प्रकार प्रसाद को उपन्यास के क्षेत्र में भाव एवं विचार द्वारा कथा-सृष्टि की स्फूर्ति मिलती है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में निम्न वर्ग के—ग्रामीण जीवन के—चित्र बड़ी सफलतापूर्वक उतारे हैं और प्रसाद ने उच्च वर्ग के नागरिक जीवन के। इसीलिए प्रसाद के

पात्र अपनी-अपनी शिक्षा के आलोक में प्रेमचन्द के पात्रों की अपेक्षा अधिक दार्शनिक, तत्त्ववेत्ता और विचारक हैं। उनमें पतितों के प्रति सहानुभूति और करुणा का भाव है। इसका एक कारण है। प्रसाद ने अपनी साहित्य-साधना में बौद्ध साहित्य एवं दर्शन से करुणा का बौद्धिक दृष्टिकोण ग्रहण किया और हिन्दू-दर्शन एवं उपनिषद्, विशेषतः वेदान्त से स्थायी एवं विराट् चेतना का आधार लिया। इसके साथ शैव-तत्त्व-ज्ञान से उनको आनन्द और उत्फुल्लता तथा उसी के साथ शक्ति के अभेदत्व की अनुभूति प्राप्त हुई। इस प्रकार तीन तत्त्व-ज्ञानों से उन्होंने अपनी साधना का सूत्र ग्रहण किया और उसको अपनी बुद्धि एवं चेतना के प्रकाश में एक उज्ज्वल और कल्याणकारी रूप प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उनकी साधना का सारा आधार बौद्धिक था। अपनी इसी बौद्धिक प्रतिभा और शक्ति के कारण उन्होंने जीवन के अनेक संघर्षों से लोहा लिया और अन्ततः साहित्य-स्रष्टा के रूप में सफल हुए। उनका जन्म दो शताब्दियों की संक्रान्ति में हुआ था। वे उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हुए और बीसवीं सदी में पनपे, पर इन दोनों सदियों के प्रभाव से अपनी बौद्धिक प्रतिभा के कारण ही वे अपने आपको बचा सके। वे स्वयं अपने निर्माता बने। उन्होंने इन दोनों शताब्दियों के बीच से होकर जाने वाले मार्ग का अनुसरण किया। इसलिए वे हमारे सामने प्राचीनता और नवीनता दोनों एक साथ लेकर आये। उनकी प्राचीनता में नवीनता और नवीनता में प्राचीनता थी। वे कहीं भी

एकदम नवीन नहीं थे। क्या साहित्य में, क्या जीवन में उनके विकास की धारा दोनों स्कूलों को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ी है। इस दृष्टि से जब हम उनके समकालीन कलाकारों की रचनाओं पर दृष्टिपात करते हैं तब हमें निराश होना पड़ता है। हम उनमें प्रसाद-जैसी न तो बौद्धिक शक्ति पाते हैं और न निश्चित विकास की रेखा। कोई साहित्यकार अपनी कृतियों की गिनती गिनाकर ही साहित्य में उच्च स्थान का अधिकारी नहीं बन जाता। प्रसाद का महत्त्व हिन्दी-साहित्य में उनके प्रकाशनों की संख्या के कारण नहीं, वरन् उनकी बौद्धिक प्रतिभा और उस प्रतिभा के उत्तरोत्तर विकास के कारण है। उनकी रचनाओं को देखने से पता चलता है कि जब से उन्होंने लिखना प्रारंभ किया तब से वे सदा आगे ही बढ़ते रहे और अन्त में 'कामायनी' के रूप में उन्होंने हिन्दी को ऐसा सुन्दर दान दिया जिसके जोड़ का आधुनिक साहित्य में कोई ग्रन्थ नहीं है। आप 'चित्राधार' से 'कामायनी' तक की उनकी समस्त रचनाएँ उठा लीजिए। किसी स्थल पर भी आप उन्हें लड़खड़ाते हुए, नीचे गिरते हुए नहीं पायेंगे। उनकी रचनाएँ वस्तुतः उनके साहित्यिक जीवन की श्रेणियाँ हैं। प्रत्येक श्रेणी का एक निजी महत्त्व है और वह उन्हें ऊँचा उठाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी प्रतिभा से हिन्दी को उन्नत रूप दिया और उसकी भावधारा पर जीवन के बौद्धिक दृष्टिकोण का अंकुश लगा दिया। एक सच्चे साहित्यकार का यही काम है।

प्रसाद की साहित्य-साधना के सम्बन्ध में हम पिछले

पृष्ठों में वहुत कुछ कह चुके हैं। हम देख चुके हैं कि साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी पहुँच थी। वस्तुतः वे हिन्दी के रवीन्द्रनाथ थे। जो कार्य रवीन्द्रनाथ ने वंग-साहित्य में किया, वही प्रसाद ने हिन्दी में किया। वंग-साहित्य का परिष्कार एवं परिमार्जन करने में जिन कठिनाइयों और परिस्थितियों का अनुभव रवीन्द्रनाथ को करना पड़ा, प्रसाद की कठिनाइयाँ उनसे कम नहीं थीं। साहित्य-साधना के क्षेत्र में दोनों कलाकार एक ही परिस्थिति से गुजरे हैं और अपने-अपने पथ के स्वयं निर्देशक और निर्माता रहे हैं। इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा और अनुभूति की मात्रा में अन्तर हो सकता है, पर जैसे रवीन्द्रनाथ ने नाटक, उपन्यास, कहानी, कविता, निवन्ध, गीति-नाट्य सभी कुछ सफलता के साथ लिखा है उसी प्रकार प्रसाद ने भी साहित्य के सभी क्षेत्रों को उदारतापूर्वक अपनी प्रतिभा का दान दिया है। इतना होते हुए भी प्रसाद को रवीन्द्रनाथ की सी लोक-प्रियता नसीव नहीं हुई। इसका कारण प्रसाद के पक्ष में उपयुक्त साधनों का अभाव था। प्रसाद हिन्दी-साहित्य के मौन साधक थे। कहीं जाना और वाद-विवाद में भाग लेना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। वे कलाकार का साहित्यिक वाजारों और मेलों में जाना उचित नहीं समझते थे। अपने घर से दूकान तक और फिर दूकान से घर तक—वस इतनी ही दूर उनका आना-जाना होता था। इसलिए वे अपने पाठकों का कोई समुदाय नहीं वना सके। रवीन्द्रनाथ के पाठकों का एक समुदाय था जिसने उन्हें ऊँचा उठा दिया। इसलिए रवीन्द्रनाथ विश्व-कवि हो गये और प्रसाद हिन्दी-साहित्य तक ही सीमित

रह गये, पर इससे उनका महत्त्व कम नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के प्रति जनता की रुचि ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों प्रसाद की कला से वह प्रभावित होती गई और आज वह उन्हें आधुनिक हिन्दी-कविता के पिता के रूप में देख रही है। प्रसाद का साहित्य इतना विस्तृत और महान् है कि उस पर बराबर नई-नई आलोचनाएँ निकलती जा रही हैं और उनकी काव्य-कला के सौंदर्य से लोग प्रभावित होते जा रहे हैं।

प्रसाद अपने प्रमुख रूप में कवि हैं। उनके एक इसी रूप में उनके कई रूपों का समाहार और अवसान हुआ है। वे एक होकर भी अनेक और अनेक होकर भी एक हैं। उनकी समस्त रचनाएँ एक आदर्श, एक उद्देश्य से बँधी हुई हैं। उनमें एक ही स्वर है अ र वह है करुणा, दया, सहानुभूति और विश्व-प्रेम का स्वर। वर्तमान युग के पीड़ित और जर्जरित मानव को उनका यही संदेश है। दार्शनिक भाव-भूमि पर उन्होंने अपने इस संदेश को जिस प्रकार सजाया-सँवारा है, वह अपने में महान् है। लाख चेष्टा करने पर भी उसका अनुकरण नहीं हो सकता। हिन्दी के वे अद्वितीय कलाकार हैं। अपनी कल्पना के उड़ान में, अपने भावों तथा विचारों के समन्वय में, अपने प्रकृति-चित्रण में, अपने भावों को गीतात्मक रूप देने में वे नवयुग के साहित्य में अग्रगण्य हैं। उनके गीतों में जो सरसता है, जो प्रवाह, जो संगीत और मानव-जीवन का जो सत्य है उसने हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है और उसे विश्व-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

प्रसाद हिंदी के युगांतर कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में युग से ऊपर जीवन के महान् तत्त्वों में सामञ्जस्य लाने का सफल प्रयत्न किया है। वे मूलतः प्रेम, सौंदर्य और आनन्द के कवि हैं। अतः उनके काव्य के सारे उपकरण इन्हीं युगेतर तत्त्वों के आधार को पुष्ट करते हैं। प्रकृति का भी स्वतंत्र प्रयोग हम उनके काव्य में नहीं पाते। उन्होंने मानव के मनस्तत्व के स्थायी तत्त्वों को अपने काव्य का विषय बनाया है। इसलिए वे इस युग के कवि होते हुए भी कई युगों के कवि हैं। तुलसी की भाँति उन्होंने मानव-हृदय की दुर्बलताओं और शक्तियों को इतना टटोला और परखा है कि वे उनके काव्य में चिरन्तन सत्य हो गई हैं। काव्य के सम्बन्ध में उनकी एक निश्चित धारणा थी। वे उसे प्रतिदिन के उत्ताप से, दैनिक जीवन के कोलाहल-पूर्ण वातावरण से केवल अपने युग की चीज़ बनाना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में केवल उन्हीं समस्याओं को चित्रित किया जो शाश्वत और अमर हैं। पन्त और निराला की कृतियों में हमें यह बात नहीं मिलती। उन्होंने अपने युग की सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी परखा है। उनकी रचनाएँ कभी इस युग की समस्या लेकर आई हैं और कभी युगेतर की, पर प्रसाद का सर्वत्र एक ही स्वर है। यही प्रसाद की महत्ता है और इसीलिए हम उनके साहित्य को भारतीय साहित्य की परम निधि मानते हैं। वे अपनी रचनाओं में चिर-नवीन, चिर-जीवित और अमर हैं। हिंदी उन्हें ऊँचा स्थान देकर आज अपना गौरव बढ़ा रही है।
